पुराना दीया : नई रोशनी

सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा

भूमिका
बालस्वरूप 'राही'

मल्होत्रा ब्रादर्स
१, फैज़ बाजार, दिल्ली

प्रकाशक
मल्होत्रा ब्रादर्स,
१, फैज़ बाज़ार, दिल्ली।

प्रथम आवृत्ति अक्टूबर, १९५८ ई०

मूल्य साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
सुपर प्रेस, पहाड़गंज,
नई दिल्ली।

पिताजी और चाचाजी

को

सादर

सुरेन्द्र : व्यक्तित्व और कृतित्व

आलोचक के गुणों की व्याख्या करते हुए एक विदेशी विचारक ने लिखा है कि आलोचना एक व्यवसाय की भाँति है, जिसमें वैदग्ध्य की अपेक्षा स्वास्थ्य, सामर्थ्य की अपेक्षा परिश्रम और प्रतिभा से अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्य से मैं इन तीनों शक्तियों से वंचित हूँ। इसलिए जब मेरे परम मित्र और नई पीढ़ी के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार श्री सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा ने मुझसे अपने पहले कहानी-संग्रह की भूमिका लिखने की बात चलाई तो मैं काफी घबड़ा गया। केवल यही नहीं कि मुझमें इस बात की घबड़ाहट थी कि यह काम मेरे लिए नया तथा मेरे स्वभाव के विपरीत था, बल्कि यह भी कि मैं सुरेन्द्र को इतने निकट से जानता हूँ कि उनकी रचनाओं के प्रति सर्वथा तटस्थ हो पाना मुझे संभव नहीं लगा। उनके कृतित्व से मेरा परिचय उतना ही प्रगाढ़ और पुराना है, जितना स्वयं अपनी कविता से। उनकी कहानियों को मैंने जन्म लेते, पनपते और बढ़ते देखा है। मैंने उन्हें सराहा है, या उन पर नुक्ताचीनी की है ज्यादातर शायद नुक्ताचीनी ही की है। मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि उनकी कथा-कृतियों का प्राय: मैं ही पहला पाठक—अधिकतर श्रोता—रहा हूँ। हम दोनों ने एकाध साल के वक्फे में तकरीबन साथ लिखना शुरू किया। प्रतिस्पर्धा तो हुई किन्तु ईर्ष्या इसलिए अधिक नहीं हुई क्योंकि हम लोगों के लेखन-क्षेत्र विभिन्न थे—

उनकी गद्य के प्रति अनुरक्ति थी, मेरी काव्य में अगाध रुचि। कंधे से कंधा मिलाकर हम बढ़े, विरोधी शक्तियों से लड़े, और एक दूसरे के विकास के प्रति पूरे सहयोग और उत्साह का प्रदर्शन किया। घंटों हम लोगों ने साहित्य के मूल्यों को लेकर लड़ाई की है, साथ-साथ भविष्य के स्वप्न देखे हैं, एक दूसरे की संभावनाओं को इसलिए अतिरंजित करके आपस में रखा, ताकि किसी प्रकार उपेक्षित होकर भी साहित्य-सृजन में जुटे रहें। समय के जिस पथ से हम गुजरे वह शायद हमें यहाँ तक न पहुँचाता, अगर हम हमसफर न होते।

नए लेखक के सम्मुख सामान्यतः जितनी कठिनाइयाँ रहती हैं, उनसे कुछ अधिक ही हमारे सामने थीं, क्योंकि एक तो हम जरूरत से ज्यादा महत्त्वाकांक्षी रहे हैं, दूसरे हमारा लेखन-क्षेत्र राजधानी रहा है, जहाँ की भव्यता ही नहीं, प्रतियोगिता, वैमनस्य और व्यावसायिक ईर्ष्याएँ भी महान हैं। फिर पूरे साहित्य-क्षेत्र में हमारा कोई सगा-सम्बन्धी, मित्र या हितैषी नहीं था, सौभाग्य हमारा कि विरोधी काफी थे। फिर भी हम जैसे तैसे थोड़ा बहुत आगे बढ़ने के लिए जूझते रहे, क्योंकि काफी शुरू से ही हमने अपने लेखन को गम्भीरतापूर्वक लेना शुरू कर दिया, और उसे अपने अस्तित्व की अनिवार्यता बना लिया। शौकिया आज तक हमने एक पंक्ति भी नहीं लिखी। यश प्रार्थी के रूप में ही हम दोनों का लेखन प्रारम्भ हुआ, क्योंकि आर्थिक स्थिति सौभाग्य से हम दोनों की ही बुरी नहीं थी।

हिन्दी के साहित्यकारों का वर्गीकरण कुछ ऐसे किया जा सकता है। एक तो वे, जो घर से निकाल दिए जाने के कारण पीड़ित होकर लिखना शुरू कर देते हैं। दूसरे वे, जो अन्य किसी भी कार्य की अनुपस्थिति—जैसे नौकरी न मिलना आदि—के कारण साहित्य-सृजन प्रारम्भ कर देते हैं। तीसरा वर्ग असफल व्यक्तियों का है, इनमें प्रमुखतः किसी कक्षा में या प्रेम-प्रसंग में बार-बार असफल होने वाले व्यक्ति आते हैं। उनकी कुंठा ही—असमर्थता मैं कैसे कह सकता हूँ—उनके साहित्य की मूल प्रेरणा होती है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से सुरेन्द्र इन तीनों वर्गों में से किसी में नहीं आते। उन्होंने मात्र इसलिए लिखना शुरू किया कि गलत या सही उनके मन में यह वहम जम गया था कि वह महान बनने के लिए पैदा हुए हैं, और महानता प्राप्ति के अन्य साधनों के अभाव में उन्होंने लेखन को चुना। उन्होंने केवल लिखने के लिए लिखा। पाठक वह थारी हैं। मुझे याद है, सेंट स्टीफेंस में बी ए में हम जब साथ पढ़ा करते थे, तो पुस्तकालय के रजिस्टर में सबसे ज्यादा पुस्तकें उन्हीं के नाम चढ़ी होती थीं। वहाँ की लायब्रेरी में जितना कथा-साहित्य था, दो-

तीन वर्ष में ही उन्होंने वह पूरा पढ डाला था। मैं अक्सर उन्हें छेड़ा करता था कि तुम पुस्तक को शायद पढते नहीं, भाँपते हो, इसीलिए इतनी जल्दी समाप्त कर लाते हो। किन्तु जब मैं किसी कृति पर उनसे चर्चा करता था, तो मुझे लगता था कि उनके निष्कर्षों में काफी वजन है।

मेहनती और कर्मठ वह मुझसे कहीं ज्यादा रहे हैं। मैंने कहीं सुना है कि अध्यवसाय और प्रतिभा के सम्मिश्रण से जीनियस बनता है। श्रम सामर्थ्य उनमें निश्चित रूप से विद्यमान है, मेरी आस्था के अनुसार प्रतिभा भी उनमें है ही, अत उनके आजकल भविष्य में मेरा दृढ विश्वास होना स्वाभाविक ही है।

१६५२ की बात है। मैंने सेंट स्टीफेंस कॉलिज में प्रवेश किया ही था। एक दिन वहा की असेम्बली में मैंने एक कविता पढी। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक मुझे बधाई दी। फिर झिझकते-झिझकते मुझे बताया कि उन्हें भी कुछ लिखने का शौक है। फिर मेरी आत्मसीमित रहने की प्रवृत्ति के बावजूद उन्होंने मुझे अपने में दिलचस्पी लेने के लिए मजबूर कर दिया। मुझे लगा कि वह अन्य सहपाठियों से कुछ भिन्न हैं। उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार की ऐसी प्रखरता और तीक्ष्णता है जो सामान्य व्यक्तियों में नहीं होती। मैंने महसूस किया कि इस व्यक्ति में लगन है, जीवन है, सघर्ष करने की शक्ति है। मुझमें उन गुणों का अभाव था, इसलिए मुझे उनकी वह उग्रता, वह आग, वह आवेश भले लगे। पर मुझे दु ख है कि जीवन के व्यग्य ने उनका हृदय भी गहरे में बीधा, और स्थिति यहाँ तक पहुँची कि वह एक उदास, खोए-खोए से, टूटे-टूटे से व्यक्ति रह गए हैं। यार-दोस्तो में बैठकर कहकहे वह अब भी लगाते हैं, किन्तु मन का उल्लास उनमें समाप्त-प्राय हो गया है, यह मैं खूब जानता हूँ।

हाँ तो, उन्होंने पहली कहानी जो मुझे सुनाई, उसका विषय शायद एक साम्यवादी का व्यग्यात्मक चित्रण था। कहानी मुझे अच्छी लगी, किन्तु मैंने कहा कि मुझे बहुत अच्छी नहीं लगी, ताकि वह उसे और माँजें। उनकी पहली कहानी शायद सरिता में छपी, सन् ५४ में 'समस्या का हल'। उस कहानी को पढकर विष्णु प्रभाकर जी ने कहा था, "आपकी शैली बहुत प्रौढ और परिमार्जित है, मैं तो यह समझा था कि आपकी उमर काफी होगी।"

कहानी-प्रकाशन के प्रति उन्होंने प्रारम्भ से ही ज्यादा सावधानी नहीं बरती। कुछ सकोच रहा होगा, पर अधिकाश अहभाव। यह समझने में उन्हें काफी समय लग गया कि उनकी कहानी छापे बगैर भी हिन्दी के पत्र बदस्तूर निकलते रहेंगे, और कि प्रकाशन की एकमात्र कसौटी प्रतिभा नहीं है। सम्पादकों के प्रति अहभाव बनाए रखने की उनकी इस जिद ने उन्हें काफी

नुकसान पहुँचाया। रचना प्रकाशित कराने के लिए रचना की श्रेष्ठता के अतिरिक्त और किसी साधन का आश्रय न ग्रहण करने की ज़िद पर वे अभी तक अड़े हुए हैं। अन्यथा उन्हें आज जितने लोग जानते हैं, उससे कहीं अधिक जानते होते। इसके बावजूद, महज चन्द कहानियों के बूते पर जो लोकप्रियता इस बाईस-वर्षीय कहानीकार को इतने थोड़े समय में मिली है, वह बहुत से तरुण लेखकों के लिए ईर्ष्या का कारण हो सकती है।

सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा के व्यक्तित्व की सबप्रमुख विशिष्टता जो मुझे लगी, वह है अतिरिक्त सतर्कता। अपने हर काम में वह इतनी सावधानी बरतते हैं, कि कभी-कभी तो मुझे काफी कोफ्त होने लगती है। उनकी इस स्वभावगत विशेषता ने उनके साहित्य को भी बेहद प्रभावित किया है। इसीलिए वह इतना कम लिख पाए, क्योंकि एक कहानी लिखने में उन्हें काफी समय लग जाता है। उनके कहानी लिखने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है। फर्ज़ कीजिए, बस में किसी से उनकी या किसी से किसी की लड़ाई हो गई। पहले तो वह उसमें काफ़ी जोशखरोश से हिस्सा लेंगे, इंशाअल्लाह दूसरे को चुप कराकर ही चुप होंगे। पर फिर एकदम जसे अपने में ही खो जाएँगे। अचानक गहन-गम्भीर मुद्रा बनाकर मुझसे पूछेंगे, "तुम्हारा क्या खयाल है, कहानी लिखी जाए इस पर ?"

मैं आश्चर्य से पूछता हूँ, 'कहानी तो जरूर लिखी जाय, पर किस पर ?"

उत्तर मिलता है, "अरे, इसी मामाकूल पर !"

फिर वे बस में चढ़ने वाले साहबों का वर्गीकरण करते हुए अपने आइडिया की रूप-रेखा बताएँगे। फिर पूछेंगे, "तुम्हारा क्या ख्याल है, है वर्थ-अटेम्पटिंग ?" मुझे पसन्द आती है तो कह देता हूँ निश्चित रूप से, साथ ही यह भी जोड़ देता हूँ कि निर्वाह सुन्दर होना चाहिए, अन्यथा अपील नहीं करेगा।

दो चार रोज़ बाद मिलेंगे, तो फिर पूछेंगे, "कुछ सोचा तुमने उस आइडिए पर, वर्थ-अटेंम्पिटग है ना ?" इस प्रकार पहले वह एक-दो हफ्ते, और कभी-कभी तो महीनों आइडिए को इस लिहाज़ से अपने दिमाग में तोलते रहते हैं कि उस पर श्रेष्ठ कहानी लिखी जा सकती है या नहीं। अगर काफी समय बाद भी वह उतना ही आकर्षित करे और यह निश्चय हो जाए कि वह मौलिक तथा असाधारण है, तभी उस पर लेखनी उठाते हैं, अन्यथा और किसी आइडिए की तलाश शुरू कर देते हैं।

कहानी लिखने से पूर्व वह उसकी रूपरेखा लगभग स्पष्ट कर लेते हैं

कि उसमे कौन-कौन-सी घटनाएँ रहेंगी, कौन-कौन से चरित्र और किस प्रकार का अन्त। प्रारम्भ और अन्त पर वह काफी जोर देते हैं। रूपरेखा बनाने मे जितना अधिक समय उन्हें लगता है, कहानी लिखने मे उतना ही कम। पर लिखने के बाद उसे माँजने मे फिर उतना ही समय लगाते हैं, और उसे इतनी अधिक बार पढ़ते हैं कि पूरी कहानी उन्हें जबानी याद हो जाती है। आप यकीन नही करेंगे, दिल्ली यूनिवर्सिटी की एक गोष्ठी मे उन्होंने अपनी एक कहानी जबानी बिल्कुल वैसे ही सुनाई थी, जैसे वह छपी थी। इतनी मेहनत के बाद रचना मे निखार आ जाना लाज़मी है।

जिस युग मे हम रह रहे हैं, उसका सर्वाधिक प्रखर जीवन-दर्शन समाजवाद है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरे युग-जीवन को उसने प्रभावित किया है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी परोक्षरूप मे समाजवाद से ही प्रभावित है। समाजवादी मान्यताएँ समाज मे प्रतिष्ठापित किए जाने के कारण व्यक्ति और समाज का सघर्ष बढा, और व्यक्ति ने अपने झूठे अह को बचाए रखने के लिए कछुए की भाँति अपनी पीठ मे मुँह छिपा लिया, प्रयोगवादी कविता इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। व्यक्तित्व का यह बिखराव भी एक प्रकार से समाजवाद की ही प्रतिक्रिया है। सुरेन्द्रकुमार भी इस समाजवादी प्रवृत्ति से प्रभावित लगते हैं। अपनी प्रतीकात्मक कहानी 'सूर्य का जन्म' मे नए इसान का जन्म खेत मे बनी एक टूटी-फूटी झोपडी मे ही उन्होंने कराया है, जो इस ओर इगित करता है कि क्राति निम्नवर्ग से ही प्रारम्भ होगी।

आज के सम्पूर्ण साहित्य की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। एक तो असाधारण से साधारणता की ओर जाने की क्रिया दूसरी व्यग्यात्मकता। दोनो की पृष्ठभूमि मे आज की विषम सामाजिक व्यवस्था है। इसी के विरोध मे साधारण को गौरवान्वित किया जा रहा है और वर्तमान सभ्यता के मिथ्याडबर और खोखलेपन पर व्यग्य बाण साधे जा रहे हैं। सुरेन्द्र की कहानियो मे भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ पूरी तरह निखर कर सामने आती हैं। एक हल्की-सी व्यग्यात्मकता—जो विषयानुकूल पर्याप्त प्रखर भी हो जाती है—उनकी रचनाओ को एक दिलचस्प चाशनी दे देती है। उनके कथाशिल्प मे तथाकथित मौलिकता चाहे उतनी न हो, पर ताजगी बहुत है। मजाक-मजाक मे वह काफी बडी बात कह जाते हैं। उनकी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ—'मन के मोड', 'मोह के बधन', 'हाँ, वह मेरा दुश्मन है,' 'अपनी-अपनी बात' आदि— पढने मे यह सहज ही प्रकट हो जाता है, कि उन्होंने जीवन का बडी गहराई और सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया है। उनके सवेदनशील व्यक्तित्व मे हल्के-से-हल्के आघात के

प्रति तीव्र प्रतिक्रिया होती है, और उसे वह बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त कर जाते हैं। उनकी व्यग्यात्मक कहानियाँ—'अपना-पराया', 'देवता, आदमी और सिक्के'—तथाकथित सभ्रांत चेहरों से कृत्रिम आवरण उतारने मे पूर्णत सफल है। 'दिल डूब-सा रहा है' एक हल्की-फुल्की रचना है—व्यग्य-विनोद से परिपूर्ण, पर काफी निमम है। 'कैप्टन साहब' रेखाचित्र को प्रकाशित होते ही जो लोकप्रियता प्राप्त हुई थी, वह इस बात की साक्षी है कि वह अत्यधिक मार्मिक बन पड़ा है। 'पुराना दीया नई रोशनी', 'प्यार के देवता, जागो', 'सूर्य का जन्म' कहानियों की लाक्षणिकता उनकी कहानियों मे प्रयुक्त प्रयोगात्मकता की ओर इगित करती है, और उन्हें एक गूढ अभिप्राय से सपृक्त कर देती है।

सुरेन्द्र आज के युग को यौन कुंठा से ग्रस्त मानते हैं, प्रगतिशीलता एव सभ्यता की सज्ञा देकर कामुकता का जो नग्न प्रदर्शन हो रहा है, उस पर उन्होने इस सग्रह की अनेक कहानियों—'सूर्य का जन्म', 'प्यार के देवता, जागो', 'परतो के आर-पार' आदि मे निमम व्यग्य किए हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं है, किन्तु वह अति-भौतिकवाद पर आश्रित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और तथाकथित सभ्यता एव प्रगति से अत्यत असतुष्ट हैं। उनका यह असतोष उनकी अनेक कहानियो मे अभिव्यक्त हुआ है।

प्रस्तुत भूमिका मे मैंने केवल व्याख्यात्मक और परिचयात्मक बने रहने का प्रयास किया है, आलोचना का मैदान दूसरो के लिए छोड दिया है, क्योकि स्टील की इस उक्ति से मैं नितात असहमत नही हूँ कि आलोचक मर्त्य प्राणियो मे मूर्खतम होता है।

८/७ माडल टाउन,
दिल्ली।

बालस्वरूप 'राही'

[illegible]

'पुराना दीया : नई रोशनी' : एक परिसंवाद

रमेश—(दरवाज़े पर दस्तक देकर) सुशील जी, हो क्या ?

सुशील—अरे, आओ भई रमेश, ख़ूब आए ! कहो, कैसे आना हुआ ?

"महज तफ़रीहन ! मार्क्स की किताब पढ़ते-पढ़ते बोर हो गया तो सोचा, तुम्हीं से कुछ गप शप कर आऊँ। कम्बख़्त आलोचना का काम भी अजीब सिरदर्द है। पहले दुनियाँ-भर से सूत्र इकट्ठे कीजिए, फिर उन्हें हिन्दी की कृतियों पर घटाइए, और फिर भी मौलिक कृतिकार की दृष्टि में मूर्ख बनिए! तुम सुनाओ, क्या बन रहा है ?"

"अरे, कुछ नहीं यार ! एक कहानी की नई पुस्तक से मग़ज़ मार रहा था। आजकल तो कहानी संग्रहों की बाढ़-सी आ गई है। कथा-साहित्य न हुआ, कोसी नदी हो गई, जाने सरकार इस पर भी कोई बाँध-बाँध लगाने की योजना क्यों नहीं बनाती ? नौकरी नहीं मिली तो कहानीकार बन गए, किसी लड़की ने डाँट दिया तो कहानी लिखने लगे। इधर यह कोई सुरेन्द्रकुमा मल्होत्रा निकले हैं, बहती गंगा देखी तो इन्होंने सोचा तुम भी हाथ धो लो।ग मैं तो नए लेखकों को पढ़ना क़तई पसन्द नहीं करता। वक्त ही कहाँ है अपक

पास कि इन नौसिखियों मे दिमाग खपाया जाय। क्यो न उसी वक्त मे क्लासिकी साहित्य का अध्ययन किया जाए उसमे कम-से-कम मोती तो हाथ लगते है। लेकिन हिन्दी-कथा-साहित्य (विशेष रूप से नई पीढ़ी की कहानियों) मे काई के सिवा कुछ भी नही। इस सग्रह को ही लो— कोई और नाम नही सूझा तो एक कहानी के शीर्षक पर ही नाम रख दिया 'पुराना दीया नई रोशनी'।"

"नाम तो बुरा नही है, यार ! और अगर यह कहानी इस सग्रह की सबसे अच्छी कहानी हो, तो यह नाम रख देने मे एतराज़ क्या है ?"

"रोना तो यही है, प्यारे—कहानी अच्छी तो है, पर इतनी नही कि सग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी का लेबिल इस पर लगाया जा सके। इसमे अच्छी कहानी तो 'कुहासा और किरण' ही है जिसका नाम बदलकर 'सूर्य का जन्म' इन हज़रत ने इस कारण रख दिया कि कही लोग यह न कहने लगें कि सत्येन्द्र शरत् पहले ही रख चुके हैं। इसके अतिरिक्त, 'देवता, आदमी और सिक्के' ही क्या बुरा था ? नाम भी अच्छा है और कहानी भी जानदार है।"

'लेकिन महेन्द्रनाथ की पुस्तक का शीर्षक भी तो 'आदमी और सिक्के' है। हिन्दी के आलोचक कहते देवता जोड़कर किसी खुशसूरती से महेन्द्रनाथ की पुस्तक का शीर्षक चुरा लिया !"

"तो 'हाँ, वह मेरा दुश्मन है' * क्या बुरा रहता ? वह इस सग्रह की शायद दो तीन सबसे अच्छी कहानियों मे से है।'

"कुछ जमता नही यार ! कहानी के शीर्षक के रूप मे तो ठीक है, पर सग्रह के नाम के रूप मे नही फबता। सबसे पहले तो तुम्ही मुँह बिचकाते, "उँह, यह भी कोई शीर्षक है—न आकर्षण, न ओज। अरे साहब, सबसे अच्छा शीर्षक तो वह है जिसका कहानी के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो !'—है न ? और भई, आजकल शीर्षकों का अकाल भी तो पड़ गया है। शब्द कोष मे तो कोई ऐसा सुन्दर और अभिव्यजनात्मक शब्द रहा नही, जिस पर किसी-न-किसी साहित्यकार ने अपना लेबिल न लगा लिया हो, आखिर मुसन्निफ़ महाशय भी क्या करता ! 'पुराना दीया नई रोशनी' नाम तो चमत्कारपूर्ण है ही, जम गया होगा उसे, रख दिया। और कहानी भी, तुम कहते हो, बुरी नहीं है। अब यह क्या ज़िद है कि सग्रह की सबसे अच्छी कहानी पर ही पुस्तक का रखा जाय !"

"शीर्षक रखने की बात छोड़िए, यार सग्रह मे ही क्या रखा है ? प्रयोग का युग है यह, किन्तु यह हज़रत हैं कि प्रयोग से अधिक कथ्य पर ज़ोर

*'यह कहानी और 'अपनी-अपनी बात' तथा 'हाँ, वह मेरा दुश्मन है' सरिता से साभार।

देते हैं। अब 'सूर्य का जन्म' तथा 'प्यार के देवता, जागो' को ही लो, अच्छी-खासी प्रयोगात्मक कहानियाँ हैं, लेकिन कथ्य को अधिक महत्त्व प्रदान करने की वही हठधर्मी—आदमी यह ज़रा सनकी लगता है। भला तुम्हीं बताओ, अगर शिल्प पर अतिरिक्त ज़ोर न दिया जाए, तो कैसे प्रमाणित हो कि हिंदी-कथा-साहित्य प्रेमचन्द से आगे बढ़ा है!"

"हाँ, तुम ठीक कहते हो! प्रयोग और चमत्कार को ही एक-मात्र उद्देश्य न मानकर अभिव्यक्ति में सादगी और सहजता को महत्त्व प्रदान करना सचमुच बहुत बड़ी मूर्खता है सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा की—क्यों, है न ?"

"केवल यही नहीं, यह महोदय इतनी अस्थिर प्रकृति के व्यक्ति हैं कि लगता है, अपना कोई जीवन-दर्शन है ही नहीं इनका। एक अजीब तमाशा है—किसी कहानी में तो ऐसा लगता है कि जैसे ज़िंदगी दम तोड़ रही है, मानवीय मूल्यों का जैसे कोई महत्त्व ही नहीं रहा और इन्सान के भाग्य पर अंधकार की इतनी गहरी परतें जम गई हैं कि जिससे उभरने का जितना ही प्रयत्न वह करता है, उसका दम घुटने लगता है। लेकिन लेकिन एक अन्य कहानी का नायक इस गहन कुहासे को चीरकर नई मानवता के लिए प्रकाश-स्तम्भ बन जाता है। कहीं तो यह महाशय प्रगतिशील कहानीकार के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं, तो कहीं पारिवारिक कहानीकार के रूप में। आखिर क्या मज़ाक है, कौन समझाए इन्हें कि प्रगतिशील और पारिवारिक कहानी का एक-दूसरे से उतना ही विरोध है जितना ३ और ६ का। खैर हमें क्या, पछतायेंगे बाद में। होगा यह कि न यह महोदय इधर के रहेंगे और न उधर के! बिना किसी गुट में दीक्षा लिए, प्रचार तो मिलने से रहा!"

"लेकिन, मेरे दोस्त, कहानी मूलतः एक मूड-विशेष की प्रतिकृति होती है। किसी एक कहानी में लेखक ज़िंदगी से ऊबकर उदासीनता की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है, लेकिन अन्य कहानी में वह सारे समाज को चुनौती भी दे सकता है। और फिर ज़िंदगी एकरूपता, एकरसता का ही तो प्रतिबिम्ब नहीं है। हाँ, यह ज़रूर है कि किसी वाद-विशेष का चोगा पहनकर सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में चल पड़ी है, उसका लाभ न उठाकर सुरेन्द्र मल्होत्रा ने न केवल मूर्खता का परिचय दिया है, वरन् यह भी सिद्ध किया है कि साहित्यकारों की आधुनिकतम प्रवृत्तियों का उसे कतई ज्ञान नहीं। इसके लिए वह सहानुभूति का पात्र है ना ?"

सुशील—(अपनी ही धुन में) लगता है यह महाशय आज के युग को संकट-जनित कुंठा का युग मानते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह

अपनी कुंठा, अपनी घुटन को समग्र समाज में फैलाकर उसे विषाक्त कर दे !"

रमेश—(व्यंग से) तुम सच कहते हो, इंसान की कमज़ोरियों पर व्यंग्य करने का जो साहस सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा ने किया है, उसमें बड़ी मूर्खता की बात क्या हो सकती है ? लोग अपने दोष छुपाने के लिए नये दोष अपनाते हुए भी नहीं झिझकते, पर यह हजरत हैं कि समाज की कमज़ोरियों पर कुठाराघात करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं। और हाँ भई, तुमने व्यक्ति और समाज के बीच एक व्यावर्तक रेखा खींचकर व्यक्ति को समाज का अंग मानने से इंकार करने का जो प्रयत्न किया है, उससे यह जरूर प्रमाणित हो जाता है कि स्वनामधन्य महान आलोचकों की पंक्ति में बैठने के अब तुम भी अधिकारी हो गए हो !"

"देखो रमेश, ज्यादा चालाक बनने की कोशिश मत करो। समाधान प्रस्तुत न करके समाज के नासूरों को उद्घाटित करके जो मौन हो जाए, उस साहित्यकार पर लानत भेजता हूँ मैं !"

"बेशक ! लम्बी-लम्बी स्पीचों के इस युग में समाजसुधारक या उपदेशक बनने का मोह जिसे न हो, उससे बेईमान, ग़ैर-ज़िम्मेदार साहित्यकार कौन हो सकता है ? और सीधे प्रचार को कहानी का सबसे बड़ा दोष सिद्ध करने का जो प्रयत्न देश-विदेश के अनेक मान्य कहानीकारों ने किया है, वह उपहासास्पद नहीं है क्या ? मुझे खुशी है, तुम अपने आलोचक होने का उत्तरदायित्व बड़ी ईमानदारी और विद्वता के साथ निभा रहे हो !"

सुशील—(झुँझलाकर) पर तुम पुस्तक पढ़े बिना ही सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा का इतना पक्ष क्यों ले रहे हो ?"

"पुस्तक ध्यान से पढ़े बिना बुराई करने से पढ़े बिना ही उसकी प्रशंसा करना क्या ज्यादा अच्छा नहीं है ? वमे यार, बहस रही दिलचस्प ! पर ताज्जुब है, तुम इसे खरीद कैसे लाए, खरीद कर पुस्तक पढ़ना तो आज के आलोचक के उसूल के खिलाफ़ की बात है !"

"अरे, यार, खरीदी कहाँ, समालोचना के लिए आई थी, इसलिए पढ़ ली।"

"यानी लेखक पर अहसान किया ! अच्छा भई, अपन चले। मार्क्स साहब याद कर रहे होंगे, तनिक अहमान मैं भी उन पर कर आऊँ। गुडबाई !"

"गुडबाई ! पर यार, एक कप चाय तो पीते जाओ।"

१, फैजबाज़ार,
दिल्ली।

श्रोता
सुरेन्द्रकुमार मल्होत्रा

अनुक्रम

१

पुराना दीया : नई रोशनी

रात आठ बजे तक वीरेन्द्र घर नहीं आया, तो मोहनलाल ने ज़मीन पर पाँव पटककर दाँत पीसते हुए कहा, "शरम-हया तो छू तक नहीं गई आजकल के लड़कों को। चाहे कितना समझाओ बुझाओ, डाँटो-डपटो, पर किसी बात का असर ही नहीं होता। सारे शहर की धूल फाँकने के बाद जनाब घर ऐसे आते हैं जैसे बेताज के बादशाह ही तो हैं।"

निर्मला चुप रही। कहती भी तो क्या, वह तो मनौती मना रही थी—हे ईश्वर, आज का दिन किसी तरह कुशल से बीत जाय!

पत्नी को चुप देखकर मोहनलाल का पारा और चढ़ा, "और बातें ऐसे करते हैं जैसे नई दुनियाँ का निर्माण ये ही तो करेंगे। अरे, काम होते हैं हिम्मत से, साधना से, न कि चौबीस घंटे आवारागर्दी करते हुए हवाई किले बनाने से। ज़िन्दगी को तो जैसे खेल समझ रखा है।"

बाहर का दरवाज़ा खटखटाए जाने की आवाज़ सुनाई दी, तो मोहनलाल फिर बड़बड़ाए, "आए होंगे शाहज़ादे कहीं से टहलते टहलते। घर को तो जैसे सराय समझ रखा है!"

निर्मला ने उठकर दरवाज़ा खोला तो देखा, सुरेश था। बोला, "वीरेन्द्र नहीं है, मौसी?"

सहमी आँखों से पति की ओर देखकर निर्मला ने सिर हिलाया, "अभी तो आया नहीं।"

जल्दी से सीढ़ियाँ उतरते हुए सुरेश बोला, "आए तो फौरन मेरे घर भेज देना, मौसी! कहना, ड्रामे का पास है मेरे पास। शो साढ़े आठ बजे से है। ज़रूर कह देना, मौसी! ऐसे ड्रामे रोज़-रोज़ थोड़े ही होते हैं।"

सुरेश चला गया तो होंठ चबाते हुए मोहनलाल बोले, "सारे दिन आवारागर्दी करने और हुल्लड़ मचाने के सिवा कोई काम ही नहीं है इन लोगों को। जेब में हाथ डालकर सिगरेट का धुआँ ऐसे उड़ाते हैं, जैसे ज़िन्दगी की कोई गंभीर समस्या सुलझा रहे हों। अरे, हम भी तो कभी जवान थे, हमारे भी दिल

था, उमगें थीं, अरमान थे ! पर यह नई पीढ़ी—ईश्वर ही रक्षा करे इस देश की !"

निर्मला ने बात टालने के लिए दबी ज़बान से कहा, "समय पाकर स्वयं ही समझ जायगा। अभी उमर ही क्या है बेचारे की। हँसने-खेलने के ये ही तो दिन होते हैं।"

मोहनलाल गरजकर बोले, "मैं कहता हूँ, जिस बात की तुम्हें समझ न हो, उसमें टाँग मत अड़ाया करो। बीस-बाईस साल का जवान भी बच्चा ही रहेगा ? मेरा क्या है, कल तुम्हीं रोओगी सिर पर हाथ रखकर !"

निर्मला चुप रही तो झल्लाकर मोहनलाल दूसरे कमरे में चले गए। सोचते-सोचते उनके सिर में दर्द-सा होने लगा—आख़िर क्या करें वह वीरेन्द्र का ? पर सवाल केवल वीरेन्द्र का थोड़े ही है—अशिष्टता, आवारगी और खोखलापन तो इस सारी-की-सारी नई पीढ़ी की रग-रग में व्याप्त है।

पिछले दो वर्ष में मोहनलाल वीरेन्द्र में एक अजीब-सा परिवर्तन देख रहे थे—एक अजीब किस्म की लापरवाही, खोयापन, उदासी ! बुलाओ तो उत्तर दे दिया, वरना गुमसुम अपने कमरे में बैठकर छत की कड़ियाँ गिनते रहे। एक दिन मोहनलाल ने प्यार से पूछा था, "क्या बात है, बेटे ?"

"जी, पिताजी !"

"यह क्या होता जा रहा है तुम्हें ? खोए-खोए उदास-उदास-से रहते हो, जैसे बोलना ही भूल गए हो !"

पर वीरेन्द्र होंठों पर एक विवश मुस्कान लाकर प्रतिरोध करता रहा था, 'आपको तो यों ही लग रहा है, पिताजी, भला कोई बात भी हो !"

झुँझलाकर आख़िर मोहनलाल ने पूछना तक बंद कर दिया था। जाने कैसी आई है यह नई पीढ़ी—दिल में जैसे धड़कन ही न हो, ज़िन्दगी मानो इनके लिए एक बहुत बड़ा बोझ हो।

बाहर दरवाज़ा खुलने के साथ ही वीरेन्द्र के एक ज़ोर के कहकहे की आवाज़ आई, तो मोहनलाल की विचारधारा टूट गई। उठकर देखा, अपने मित्रों से विदा लेते हुए वीरेन्द्र चिल्ला रहा था, "अच्छा, नई, फिर मिलेंगे। चीरियो !"

मोहनलाल को फिर क्रोध आ गया। यार-दोस्तों में सारे दिन ठहाका लगाता रहता है, पर घर ऐसे आता है जैसे साँप सूँघ गया हो !

वीरेन्द्र की आवाज़ फिर सुनाई दी, "नहीं, माँ, बिलकुल भूख नहीं है।'

निर्मला का दबा स्वर सुनाई दिया, "तुझे कभी भूख लगी भी है ?"

"अब तुम्हीं बताओ, माँ, मैं क्या करूँ ? यार-दोस्त मिल जाते हैं तो. ।"

मोहनलाल से और नहीं सुना गया। कठोर स्वर में बोले, "वीरेन्द्र !"

वीरेन्द्र का खून सूख गया। अपराधी-सा सामने आ खड़ा हुआ।

"कितने बजे हैं ?" मोहनलाल ने पूछा।

पिता के सामने वीरेन्द्र की घिग्घी बँध जाती थी। हकलाते हुए बोला, "एक दोस्त मिल गया था, पिताजी !"

"आज फिर सिनेमा देखकर आए हो ?"

झूठ बोलने का वीरेन्द्र में साहस नहीं हुआ, "पिताजी ।"

"मैं कहता हूँ, तुममें कभी संजीदगी आएगी या नहीं ? सस्ते, अश्लील फिल्म देखते हुए शरम नहीं आती तुम्हें ?"

वीरेन्द्र सिर झुकाए सुनता रहा। मोहनलाल कहते रहे, "सारे दिन दाँत निकालने, वक्त और पैसा बरबाद करने के सिवा और भी कोई काम है तुम लोगों को ? आखिर इन्सान की कुछ जिम्मेदारियाँ होती हैं। तीन दिन से बहन बीमार है, पर रायसाहब को उससे दो बात करने की भी फुरसत नहीं।"

बोलते-बोलते मोहनलाल थक गए तो आखिरी बार चिल्लाए, "रेस्तोराँ का स्वाद जिसके मुँह लग जाय, उसे घर का खाना क्यों अच्छा लगेगा ! पर कान खोलकर सुन लो, ये नखरे यहाँ नहीं चलेंगे। चलो, खाना खाओ सीधी तरह !"

वीरेन्द्र अनमने मन से रसोई में आकर माँ से बोला, "खाना परोस दो, माँ !"

सुबह हुई तो मोहनलाल को पश्चात्ताप-सा होने लगा— बेचारे को कितना डाँट दिया कल, क्या कहता होगा मन में ! पर फिर दिल को तसल्ली दी—अरे, हमारा तो खून सूखता था बाप का मुँह देखकर, पर आजकल के ये लड़के ।

चाय मेज पर रख दी गई तो मोहनलाल ने आवाज दी, वीरेन्द्र !"

निर्मला हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई, "मैं बुला लाती हूँ। रात तबीयत ठीक नहीं थी उसकी, शायद सो रहा हो।"

"अजी, नहीं। दस-दस बजे सोकर उठना तो आजकल के लड़कों का

फैशन है। तबीयत ठीक नही रहती मगर, तो सुबह सैर करने जाया करे। पर आलस और सुस्ती पीछा छोड़ें, तब न।" मोहनलाल भूल गए कि अपनी युवावस्था मे अगर उन्हें कभी सुबह सैर को जाना पडता था तो ऐसा लगता था उन्हें, जैसे फाँसी चढने जा रहे हो।

मोहनलाल दफ्तर जाने लगे तो देखा, वीरेन्द्र अपने कमरे मे बैठा कुछ लिख रहा था, शायद कोई कहानी हो। इन दिनो वीरेन्द्र मे एक प्रसिद्ध कहानीकार बनने की धुन समाई हुई थी। जब देखो खोया-खोया-सा जाने क्या सोचता रहता।

जाते-जाते मोहनलाल एक बार फिर बडबडाए, "चाहे कितना ही समझाओ, सुनता ही नही यह। एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है। सिवा समय नष्ट करने के ।"

शाम को मोहनलाल घर आए तो सुना वीरेन्द्र चीख रहा था, "मैं पूछता हूँ, मेरी चीज़ो को हाथ क्यो लगाए कोई? सुबह ही वह किताब मेज पर रख गया था और अब गायब है। कोई चीज़ रहती भी है इस घर मे?"

निर्मला ने उसे मनाते हुए कहा, "मिल जायगी, बेटा, जायगी कहाँ और फिर तुम भी तो सँभालकर नही रखते।"

"मैं कुछ नही जानता ।" सहसा पिता पर नजर पडी तो वीरेन्द्र सिटपिटाकर चुप हो गया।

मोहनलाल ने व्यग्य से कहा, "कहे जाओ, बेटे! इस तरह चिल्लाओगे नही, तो पता कैसा चलेगा कि जनाब घर आ गए हैं। चिल्ला-चिल्लाकर आसमान सिर पर उठाना ही तो आज के युवको का सबसे बडा गुण है! कुल का नाम खूब रोशन करोगे तुम!"

खाना खाते समय वीरेन्द्र की आवाज़ फिर सुनाई दी, "खाना किससे खाऊँ—सुबह-शाम वही सब्जी!"

मोहनलाल चुप सुनते रहे—आखिर कोई कब तक कहे! हर चीज की नुक्ताचीनी करना तो कोई आजकल के लडको से सीखे। रोब इस तरह डालते हैं जैसे कोई ज़िला फतह करके आये हो!

मोहनलाल रोज देखते और झल्लाते, पर कोई उनकी सुने तब न! आजकल के लडके तो अपने को जैसे खुदा समझते हैं!

एक दिन मोहनलाल घर आए तो बेहद खुश थे। अन्दर कदम रखते

ही बोले, "जरा इधर तो आना, वीरेन्द्र की माँ !"

निर्मला आई तो वह बोले, "सेठ श्यामलाल अपनी बेटी के लिए जोर दे रहे हैं। भला इससे अच्छा खानदान कहाँ मिलेगा ! लड़की साँवली जरूर है, पर गुणों की भी तो कोई कीमत होती है आखिर। मैंने तो कह दिया कि लड़का आपका ही है।"

वीरेन्द्र अपने कमरे में बैठा सब सुन रहा था, बोला, "जरा बात तो सुनना, माँ !"

निर्मला वीरेन्द्र के पास से वापस आई तो उसका चेहरा उतरा हुआ था। मोहनलाल ने व्यग्र होकर पूछा, "क्यों, क्या बात है ?"

बड़ी कोशिश करके निर्मला बोली, 'वीरेन्द्र को यह रिश्ता मंजूर नहीं है।"

मोहनलाल पर जैसे आसमान टूट पड़ा हो, "क्या कहा तुमने ?"

पैर के अँगूठे से जमीन कुरेदते हुए निर्मला बोली, "वह कहता है, शादी करेगा तो किरण से ही वरना ।"

मोहनलाल का चेहरा तमतमा गया। चिल्ला कर बोले, "वीरेन्द्र !"

वीरेन्द्र ठिठकता हुआ बाहर आया। विनम्र किन्तु दृढ़ स्वर में बोला, "पिताजी, मैं यहाँ शादी नहीं करूँगा।"

मोहनलाल सकपका गए। इस तरह जवाब देने की हिम्मत वीरेन्द्र ने आज पहली बार की थी। गरजकर बोले, "क्या बकता है ?"

वीरेन्द्र चुपचाप खड़ा रहा, मानो उसका निर्णय अटल हो।

मोहनलाल क्रोध से पागल हो गये, "इस तरह जबान चलाते शरम नहीं आती तुम्हें ?"

पर वीरेन्द्र फिर विनम्र स्वर में बोला, "शादी मुझे करनी है, पिताजी, मेरी सारी जिन्दगी का सवाल है। मैं फैसला कर चुका हूँ।"

निर्मला ने समझाने की कोशिश की, "सुन तो, बेटा ।"

पर मोहनलाल ने बीच में ही आँख लाल करके कहा, "बड़ा आया फैसला करने वाला ! तो अब समझा जनाब सारे दिन गायब क्यों रहते थे। हट जाओ मेरी आँखों के सामने से—नालायक !"

वीरेन्द्र अपने कमरे में वापस चला गया तो निर्मला रोकर बोली, "तुम्हीं मान जाओ। किरण का खानदान भी छोटा थोड़े ही है।"

मोहनलाल ने कहा, "तुम चुप रहो जी ! मैं वचन दे चुका हूँ। आखिर खानदान की इज़्ज़त भी तो कोई चीज़ होनी है। कल का लौंडा.. मुहब्बत करने चला है ! जाने किस हवा मे पलते हैं ये लोग !"

निर्मला के दिल की धड़कन जैसे बद हो गई। अब क्या होगा ? दोनो ज़िद्दी हैं। सहसा दरवाज़े पर किसी को खड़े देखकर वह चौंकी। उठकर देखा तो मोहनलाल का बचपन का मित्र रमण था। चकित-सी बोली, "आप !"

आवाज़ सुनकर मोहनलाल पास आए। "अरे रमण, तुम ?" और दोनो मित्र एक दूसरे से लिपट गए। "भई, वाह ! अजीब आदमी हो तुम भी, ऐसे गायब हुए कि पता ही नही चला ! एक ज़माने के बाद मिले हो आज, आओ ऊपर चलें। आराम से बैठकर बातें करेंगे।"

ऊपर पहुँचकर मोहनलाल को गौर से देखते हुए रमण बोला, "अरे, तुम्हें हो क्या गया है, मोहन ? क्या बुझा-बुझा-सा चेहरा है ! . . याद हैं वे दिन ?"

मोहनलाल के चेहरे पर एक चमक-सी आई, पर दूसरे ही क्षण विलीन हो गई। निराशा से हाथ हिलाते हुए बोले, "भई, वह ज़माना ही और था !"

रमण ने मुस्कराकर कहा, "तुम कैसे भूलोगे उन दिनों को ! जिधर से निकल जाते थे लड़कियाँ देखती रह जाती थीं। हम सब तो तुम्हें अपना प्रतिद्वंद्वी समझते थे।"

मोहनलाल के दिल मे गुदगुदी-सी होने लगी। अतीत के चित्र उनकी आँखो के सामने नाच गए—वे भी क्या दिन थे !

रमण कहता जा रहा था, "और वह सरिता ! हाय, दोस्त, तुमने भी गहरा हाथ मारा था !"

रमण ने जैसे पुराने घाव को फिर से कुरेद दिया, मोहनलाल के दिल मे दर्द-सा होने लगा। उन्हें वे दिन याद आए जब वह और सरिता मिला करते थे—इस निर्मम ससार की दृष्टि से दूर, एक अलग दुनियाँ बसाने के खयालों मे खोए हुए ! लेकिन आज. उन्होंने एक ठडी साँस ली। आज वह सरिता को देखने तक को तरस गए हैं। इतने वर्षों के वियोग के बावजूद वह भूल नहीं पाए उसे। उफ़, ज़िन्दगी कितना बड़ा मज़ाक है !

उनके दिल मे एक हूक-सी उठी। अगर पिताजी उन्हें घर से निकालने की धमकी न देते तो आज इस घर की स्वामिनी निर्मला नहीं, सरिता होती। उनके दिल मे एक तूफान-सा उठने लगा। रुँधे कठ से बोले, "अब तो उन दिनो की याद करके दिल मे दर्द-सा होने लगता है। वे ठहाके, वे कहकहे—क्या दिन थे वे भी! न कोई फिक्र, न चिंता। अपने विगत जीवन पर नज़र डालता हूँ, तो ऐसा लगता है जैसे किसी दूसरे की कहानी दोहरा रहा हूँ।"

दो क्षण दोनो अतीत में खोए चुप रहे। फिर सहसा रमण ठहाका लगाकर हँस पडा, "याद है जब मास्टर रोशनलाल की मेज़ मे मेढक रखने के अपराध मे सारी क्लास ने बेंत खाए थे?"

वह दृश्य मोहनलाल की आँखो के सामने घूम गया। वह खिलखिलाकर बोले, "पर हम दोनो तो बच गए थे, खिड़की की राह बाहर जो भाग गए थे!"

रमण हँसते हुए बोला, "भई, वे भी क्या मस्ती के दिन थे—प्रोफेसर साहब लैक्चर देते रहते और हम हाज़री बोलकर या तो बाहर खिसक जाते, या पिछले डेस्कों पर बैठकर मूँगफली खाते रहते।"

मोहनलाल ने कहा, "पर, यार, रोज़ डाँट पड़ती थी घर पर। पिताजी मेरी शरारतो से तग आ गए थे। एक दिन झल्लाकर बोले, 'सारे दिन आवारागर्दी करने और हुल्लड मचाने के अलावा भी कोई काम है तुम लोगो को?"

रमण बोला, "घर वालों के सो जाने पर रात को पिछले दरवाज़े से खिसककर हम नौटकी देखने जाया करते थे। भई, चम्पा का भी नाचने मे मुकाबला नही था। क्या नज़ाकत पाई थी उसने, क्या उभार था उसके यौवन मे!"

मोहनलाल फिर अतीत मे खो गए। मुहल्ले के सब लोग उनसे परेशान थे। एक-दूसरे के कान भरकर, परस्पर लडाई कराकर तमाशा देखना मोहनलाल के बाएँ हाथ का खेल था। यही नहीं, कोई भी लड़का ऐसा न था जिसे मोहनलाल ने पीटा न हो। मोहनलाल के पिता रोज झल्लाते, पर वह तो डाँट खाने के आदी हो गए थे। चुप सुनते रहते।

यकायक आकाश मे उडती दो पतगों मे से एक कटकर मोहनलाल की

छत पर गिर गई। रमण ने लपककर उसे उठा लिया। बोला, "चलो, यार, पतंग उड़ाएँ।"

मोहनलाल मुस्कराए, "वे दिन गए, दोस्त, भूल जाओ उन्हें!"

रमण ने विवशता की साँस ली। उफ़, जिन्दगी कितनी बदल गई है! हर रोज़ मार खाने पर भी सारे दिन छत पर चढ़कर पतंग उड़ाना अब तो महज सपना लगता है। बोला, "जवानी का तकाज़ा था—हँस-बोल लिए, अब तो जिन्दगी की समस्याएँ ही दम नहीं लेने देती!"

मोहनलाल के दिल में फिर दर्द-सा होने लगा—काश कि वे दिन लौट सकते! एक अजीब-सी लापरवाही थी तबीअत में, एक अजीब-सा खोयापन! हँसने लगे तो हँसते ही रहे, और चुप हुए तो घण्टों गुमसुम, उदास बैठे शून्य में देखते रहे।

दोनों मित्र हसरत-भरी निगाहों से अतीत में झाँकने की कोशिश करते रहे। एक बार खोकर इन्सान आँखों में एक अजीब-सी प्यास लिए देखने और हाथ मलने के सिवा कुछ नहीं कर सकता।

आखिर रमण चलने लगा तो मोहनलाल ने ज़ोर से उसका हाथ दबाते हुए कहा, "कभी-कभी मिलते रहा करो, यार!" दिल भर आने के कारण शेष शब्द गले में ही अटक गए।

रमण के जाने के बाद भारी मन से मोहनलाल चारपाई पर लेट गए। उफ़, कितनी आकांक्षाएँ थीं उनकी! बचपन से ही इंजीनियर बनने के स्वप्न देखा करते थे वह, पर पिताजी उन्हें अपने व्यापार में ही लगाना चाहते थे। मोहनलाल का दिल होंठों तक आ गया। काश, उन्होंने पिताजी की इच्छा के सामने इस तरह घुटने न टेके होते! विवश-भावों का एक ज्वार-सा उठा कि मोहनलाल से लेटा नहीं गया।

वह अपने भाग्य को कोसते रहे। सहसा वह चौंक पड़े। हाँ, वह भी तो वीरेन्द्र को ठीक उसी तरह, उन्हीं बातों के लिए डाँटा करते हैं, जिनके लिए उन्हें स्वयं अपने पिता से डाँट खानी पड़ती थी। वीरेन्द्र और उसके दोस्त मोहनलाल और रमण के ही तो प्रतिरूप हैं—वही उदासी, वही खोयापन, लापरवाही, ग़ैर-ज़िम्मेदारी, आवारगी, विद्रोह, जोश! तो तो दुनिया बदली नहीं है क्या? मानव की मूल भावनाएँ वे ही हैं? नई और पुरानी पीढ़ी में कोई अन्तर नहीं हुआ? जिन्दगी क्या उसी ढर्रे पर चल रही है?

ज्यों ज्यों मोहनलाल दिमाग पर ज़ोर डालने की कोशिश करते, वे धुंधले चित्र उभरने गए। हां, इन्सान बदला नहीं था। मोहनलाल चाहते तो वीरेंद्र के रूप में अपने विस्मृत-रूप के दर्शन कर लेते। उन्हें लगा जैसे उनके अन्दर एक क्रांतिकारी परिवर्तन होता जा रहा है।

सोचते-सोचते जाने कब उनकी आंख लग गई। एक घण्टे बाद वह उठे तो नीचे गए। वातावरण में वही तनाव, वही घुटन थी।

निर्मला ने रुंधे कंठ से कहा, "तुम्हीं मान जाओ। मैं तो समझाते-समझाते हार गई उसे। आखिर तुम्हें इस सम्बन्ध को स्वीकार करने में आपत्ति क्या है?"

मोहनलाल ने अपना दिल टटोला। अपना अतीत एक बार फिर याद आया तो उनका दिल पिघलने लगा। हां, आखिर उनकी आपत्ति का आधार क्या है? उन्होंने कोने में खड़े बेटे की ओर देखा। वेदना की रेखाएं उसके चेहरे पर खुद-सी गई थीं। ऐसा लगता था, जैसे उसके मन में तूफ़ान सा उठ रहा हो, जैसे उसकी ज़िन्दगी और मौत का सवाल हो। सरिता की याद ने उनके मन को एक बार फिर झकझोर दिया। पुत्र के लिए उनके मन में प्यार का सागर-सा उमड़ आया। बोले, "वीरेंद्र!"

वीरेन्द्र ने बिना आगे सुने एक बार फिर कहा, "मैं फ़ैसला कर चुका हूँ, पिताजी!"

उसके स्वर में जो निश्चयात्मकता थी, उसने मोहनलाल को स्तम्भित कर दिया—वीरेंद्र कमज़ोर नहीं था, उनकी तरह डरपोक नहीं था, परिस्थितियों के सामने घुटने नहीं टेक सकता था।

निर्मला ने मिन्नत करते हुए वीरेंद्र से कहा, "तुझे हो क्या गया है?"

वीरेंद्र ने झल्लाकर कहा, "मैं कह चुका हूँ, मां, मैं शादी करूंगा तो किरण से ही!"

मोहनलाल ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा, "तमीज़ से बोलो!"

वीरेन्द्र के चेहरे पर विद्रोह और भी उभर आया। बोला, "मैंने अशिष्टता की कोई बात नहीं की, पिताजी!"

मोहनलाल क्रोध से पागल हो गए। आज तक वीरेन्द्र उनके सामने इस तरह बोलने का साहस नहीं कर सका था। वह गरजकर बोले, "चुप रह, बदतमीज़! इस घर में रहना है तो मेरे कहे मुताबिक चलना पड़ेगा।"

वीरेन्द्र धीरे से विनम्र किन्तु दृढ स्वर मे बोला, "ठीक है, पिताजी, मैं आज ही चला जाऊँगा। दुनियाँ आपके घर तक ही सीमित नही है। हम नये लोग कहीं-न-कहीं अपने लिए जगह बना ही लेंगे।"

मोहनलाल बेटे की ओर देखते रह गए। आज वह विद्रोह करने पर तुल गया था। कोई रोक नही सकता था उसे। नये मे पुराने की अपेक्षा अधिक बल था, अधिक दृढता थी, वह झुक नही सकता था, टूट भले ही जाय। उनका जी हुआ कि बेटे को छाती से लगा लें। उनका बेटा बडी-बडी डींगें ही नही मारा करता था, बल्कि पर दूसरे ही क्षण वह काँप गए। परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि मोहनलाल समझौता नही कर सकते थे। अपने शब्दो को वापस कैसे ले लें वह ? आखिर उनके भी तो मान का प्रश्न था ! कैसे झुक जाएँ वह ? उन्होंने वीरेन्द्र को समझाने की कोशिश की, "दुनियाँ तुमने अभी देखी नही है, बेटे !"

पर वीरेन्द्र तो आज कसम खाकर आया था। उत्तर मे वह केवल मुस्कराया। मोहनलाल को लगा कि जैसे वह उनका उपहास कर रहा हो। चिल्लाकर बोले, "जाओ, जाते क्यो नही ? चाहे जहन्नुम मे जाओ—मेरी बला से !"

निर्मला सिसकती रही। वीरेन्द्र कुछ क्षण चुप रहा। मानसिक यातना उसके चेहरे पर उभर आई। आखिर बडी कोशिश करके वह बोला, "मेरा कहा सुना माफ कीजिएगा, पिताजी !"

उसने दरवाजे की ओर पैर बढाए तो निर्मला उससे लिपट गई। "तुझे क्या हो गया है, मेरे लाल ?"

वीरेन्द्र की आँखें डबडबा आईं, पर अपने को जबरदस्ती माँ की बाँहों से छुडाते हुए वह बोला, "अपने को सँभालो, माँ !"

निर्मला ने पति को झकझोरते हुए कहा, "तुम्हीं मान जाओ।"

आन्तरिक वेदना को सह न सकने के कारण मोहनलाल ने होंठ भींच लिए। बेटे की ओर उनके हाथ एक बार बढे, पर फिर गिर गए। उफ, अपने स्वाभिमान का परित्याग कैसे कर दें वह—वह भी अपने ही बेटे के सामने, जो उनके अस्तित्व पर ठोकर लगाने पर तुल गया है ! आँखो मे वेदना का सागर भरे वह एक मूक दर्शक के समान देखते रहे।

वीरेन्द्र सीढियाँ उतरने लगा तो निर्मला चीखी, "अरे, इस तरह खाली

हाथ ही चला जायगा, मेरा लाल !"

वीरेन्द्र रुका नहीं।

मोहनलाल पागल-से हो गए। अपने विद्रोही बेटे के लिए इतना प्यार, इतना गर्व उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया था। उनका जी किया कि भागकर बेटे को छाती से लगाकर वापस ले आएँ। हर नई चीज का तिरस्कार और उपहास करने वाले मोहनलाल के दिल मे उसके लिए गहन आस्था उत्पन्न हो गई हो जैसे। पर उनके पैरो मे जैसे किसी ने बेडियाँ डाल दी हो, मिथ्या अभिमान ने उनके होंठ सी दिए हों जैसे, चाहकर भी वीरेन्द्र को पुकार नहीं सके।

आखिर वीरेन्द्र सीढियाँ उतर गया तो लडखडाते पगो से मोहनलाल अपने कमरे मे आ गए। खिडकी में से जाते हुए बेटे की ओर देखते रहे। उनके हृदय मे आशा की एक किरण अभी भी शेष थी—शायद वीरेन्द्र वापस आ जाय ! पर धीरे-धीरे वह उनकी आँखो से ओझल हो गया तो मोहनलाल कटे वृक्ष की तरह चारपाई पर गिर गए। रोकने की भरसक चेष्टा करने पर भी उनकी आँखो से आँसू टपक पडे। आखिर नहीं सहा गया तो चेहरे को हाथों से ढककर वह फूट-फूटकर रो पडे। उनका मन हुआ कि चिल्लाकर कहें—लौट आओ, बेटा ! पर वीरेन्द्र तो जा चुका था—नजर और आवाज की पहुँच से बाहर !

२

देवता, आदमी और सिक्के

जिसने भी महीप की आकस्मिक मृत्यु का समाचार सुना, स्तम्भित रह गया। दिल का रोगी वह ज़रूर था, पर तेतीस वर्ष की अल्पावस्था में ही वह इस दुनियाँ से नाता तोड़कर चल देगा, किसी ने सोचा तक न था। श्यामलाल ने आँखें पोंछते हुए कहा, "आदमी नहीं देवता था, देवता! सच है देवता पुरुषों को ईश्वर शीघ्र ही अपने पास बुला लेता है!"

मोहनसिंह ने भरे गले से कहा, "उसके चेहरे पर कभी कोई शिकन नहीं देखी। किसी का बुरा करना तो दूर रहा, उसने सोचा तक न था। हर-किसी की सहायता को तैयार रहता वह, जैसे सारी दुनियाँ के दुःख दूर करने का ज़िम्मा उसी का हो।"

किशनचन्द ने उस महानात्मा के सम्मान में झुककर कहा, "ऐसा आदमी फिर कभी देखने को नहीं मिलेगा!"

और नीरजा—पत्थर की मूर्ति के समान निस्तब्ध, चेतनाहीन वह मृत-पति के चेहरे की ओर देखे जा रही थी, मानो वह सहसा मुस्करा देगा और वह खुशी से पागल होकर उससे लिपट जायगी।

वीरेन्द्र ने सिसकते हुए आकर कहा, "अपने को सम्हालो, भाभी!"

पर नीरजा तो संज्ञाहीन हो चुकी थी, पथराई आँखों से उसने देवर की ओर देखा और फिर पछाड़ खाकर गिर पड़ी। वीरेन्द्र से और नहीं सहा गया, दीवार का सहारा लेकर पागलों की तरह रोते हुए बोला, "तुम कहाँ चले गए, भैय्या ?"

शान्तिमोहन ने उसे चुप कराते हुए रुँधे कंठ से कहा, "अब चुप करो, बेटा, उसकी आत्मा को और दुःख न पहुँचाओ।"

सहानुभूति पाकर रुदन बढ़ जाता है, उनसे लिपटकर हिचकियाँ भरते हुए वीरेन्द्र बोला, "मैं भैय्या के बिना कैसे जी पाऊँगा, चाचाजी!" शान्तिमोहन के हृदय में आँसुओं का ज्वार-सा उमड़ा और एक कोने में जाकर वह फूट-फूटकर रोने लगे।

दोनो हाथो से चेहरा ढके सोमेश अलग रो रहा था। उसे वह दिन याद आया, जब उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे अपनी बाँहो मे समेटकर रुँधे कठ से महीप ने कहा था, "तुम चिन्ता मत करो बेटा, अभी मैं जो जिन्दा हूँ।" सोमेश ने उसके वक्ष मे सिर छिपा लिया था—हाँ, महीप दादा के सिवा सारी दुनियाँ मे अब उसका रहा ही कौन था ?

सोचकर कृतज्ञता से उसकी आँखे भर आई—इजीनियर बनकर इतने ऊँचे पद पर सोमेश के नियुक्त हो जाने का श्रेय महीप के सिवाय किसको है ? हाँ, एक दिन भी तो महीप ने महसूस नही होने दिया उसे कि वह अनाथ है, निराश्रित ! महीप का अपना बच्चा कोई न था, पर सारा प्यार, सारा दुलार सोमेश पर लुटाकर महीप ने उस अभाव की पूर्ति कर ली थी। याद करके सोमेश के मन मे एक तूफान-सा उठने लगा, तो तो वह देवता पुरुष सचमुच अब इस दुनियाँ मे नही रहा ? प्यार, ममता और स्नेह की वह प्रतिमूर्ति क्या हमेशा के लिए स्पदनहीन, निश्चेतन बन गई ?

वीरेन्द्र ने आकर उसे सहारा देते हुए कहा, "चुप करो, सोमू, हम ही इस तरह हिम्मत हार दें तो भाभी पर क्या असर होगा !"

सोमेश ने आँसुओ से भीगा चेहरा ऊपर उठाया, देखा, रो-रोकर वीरेन्द्र की आँखें सूज गई थी। चीखकर वह उससे लिपट गया।

उसे चुप कराने की चेष्टा करते हुए वीरेन्द्र बोला, "एक दिन तो सभी को जाना है सोमू पर इतनी ही उम्र मे भैय्या ने जितना यश, जितना मान पाया, कितनो को मिलता है ? सच, यह दुनियाँ उनके योग्य नहीं थी, इसीलिए तो वह इतनी जल्दी ही देवलोक मे वापस चले गए।"

और दिल मे दर्द की एक लहर-सी उठी कि वीरेन्द्र ने दोनो हाथो से अपना चेहरा ढक लिया—जितना प्यार, जितना दुलार भैय्या ने उसे दिया था, कहाँ-किससे पाएगा अब वह ?

दुकान का मुनीम दहाडें मारकर रोता हुआ आकर बोला, "यह क्या हो गया, छोटे बाबू, ईश्वर इतना निर्दयी कैसे हो गया ?"

वीरेन्द्र आखिर किस-किसको चुप कराता ?

मुनीम कहे जा रहा था, "कभी किसी की तकलीफ़ नही देख सके बडे बाबू ! अभी उस दिन मेरा चेहरा उतरा हुआ देखकर पूछने लगे, कुशल तो है मुनीमजी ? मैंने डरते-डरते कहा कि सरकार, घरवाली बीमार है और दवाई

के लिए । मेरे मुँह से शब्द निकले भी न थे कि दस-दस के दो नोट देते हुए बोले, अभी इनसे काम चलाओ मुनीम जी, बाकी फिर . ।" गला भर आने के कारण मुनीम वाक्य पूरा न कर पाया।

सारी दुनियाँ मनुष्य-रूपी उस देवता का गुणगान कर रही थी। लक्ष्मी विधवा हो गई तो महीप ने साठ रुपया महीना बाँध दिया। सुखिया के बेटे को अपने यहाँ नौकर रखकर उसने उसे ज़िन्दगी का सहारा दिया। भला ऐसा आदमी कब पैदा होता है!

किसी तरह रात कटी। पर वह सुबह एक ऐसी मनहूसी लेकर आई कि सबका दम घुटने लगा, दिल बैठने लगे, होंठ काँपने लगे। नहला-धुलाकर महीप का मृत शरीर तख्ते पर रखा जाने लगा तो रहा-सहा धैर्य भी खत्म हो गया। उफ़, जी को किस तरह कड़ा करके महीप का शरीर अग्नि को भेंट किया जा सकेगा? उस विशाल जनसमुदाय मे कोई भी ऐसा न था जिसकी आँखों मे आँसू न हो, जिसके दिल मे हूक न उठ रही हो। उफ़, इतने महान् पुरुष का अन्त कितना करुण, कितना दयनीय था!

और नीरजा—किसके सहारे एकाकी जीवन का बोझ ढो पाएगी वह? घुल-घुलकर मरने के सिवाय लिखा ही क्या था अब उसकी ज़िंदगी मे? जीवन मे आखिर कौनसा आकर्षण था उसे अब? मरने वाला चल तो देता है, पर पीछे रहने वालो को पहाड़-सा दुःख जो वह दे जाता है, उसे कैसे ढो पाएँ वे?

आखिर महीप के शरीर को अग्नि की भेंट करके वे घर वापस आये। सबके दिलो पर मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ था और आँखो मे उसकी भयानकता अंकित थी। मोहनसिंह ने हिचकियाँ लेते हुए कहा, "परसो महीप मिला तो बोला, यार, मेरे बाद और चाहे कुछ भी सोचो तुम, पर इतना जरूर कहोगे कि दोस्ती उसने खूब निभाई।"

कोई कहता भी तो क्या, मन मे तो भावो का ज्वार-सा उमड़ रहा था। सहसा हड़बड़ाये-से अनिल ने वीरेन्द्र के कानो मे फुसफुसाकर पूछा, "कुछ सुना, जीजा जी?"

वीरेन्द्र ने उदास चेहरा ऊपर उठाया तो उसे इशारे से उठने का आदेश देते हुए वह बोला, "ज़रा इधर तो आइये।"

सबकी आँखें उत्सुकता से भर गईं, कान खड़े हो गए। आखिर क्या

बात हो गई ?

वीरेन्द्र आया, तो उसकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं और होंठ काँप रहे थे।

"क्यों, क्या बात थी, बेटा ?" श्यामलाल ने आगे बढ़कर पूछा तो सब पास खिसक आये।

शान्तिमोहन ने तसल्ली देते हुए कहा, "धैर्य धरो बेटा ।"

जाने क्यों वीरेन्द्र के होंठ भिंच गए।

सुखिया ने आकर कहा, "वहू बहुत रो रही है, बेटा ।"

जाने किस पर का क्रोध सुखिया पर उतरा चीखकर वीरेन्द्र बोला, "तुम लोग मुझे चैन लेने दोगे या ?"

सुखिया डरकर पीछे हट गई—हे ईश्वर, यह उसी देवता-पुरुष का छोटा भाई है क्या ?

सोमेश ने काँपते हुए आकर पूछा, "यह क्या सच है, भैय्या ?"

सबके चेहरे और गम्भीर हो गए—जरूर कोई बड़ी बात हो गई है; पर महीप की मृत्यु से बड़ी बात क्या हो सकती है ? मोहनसिंह ने व्यग्र होकर पूछा, "अरे, कुछ कहो भी, हुआ क्या है ?" वीरेन्द्र से अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर सोमेश ने अपना माथा ठोंक लिया।

वातावरण में एक अजीब-सी उत्तेजना पैदा हो गई थी। आखिर बात क्या है ? सोमेश ने उत्तेजित होकर कहा, "महीप दादा सारी सम्पत्ति अपनी पत्नी के नाम कर गए हैं !"

सहसा जैसे बम गिरा हो, चौंककर सबने पूछा, "क्या ?"

सोमेश ने उसी लहजे में कहा, "भला भाभी को इतनी सम्पत्ति की आवश्यकता क्या है ? पत्नी के बहकावे में आकर महीप दादा ।"

किशनचन्द महीप का बचपन का मित्र था, डपटकर बोला, "तमीज से बोलो, सोमेश !"

सोमेश ने उत्तेजित होकर कहा, "आपको कुछ अन्तर नहीं पड़ता इससे, इसीलिए । जो भोगता है, वही महसूस कर सकता है जनाब !"

किशनचन्द ने बात दबाने के लिये कहा, "चुप भी करो सोमेश, सब लोग क्या कहेंगे !"

क्रोध से सोमेश की मुट्ठियाँ भिंच गईं।

शान्तिमोहन ने मोहनसिंह को कोहनी मारकर कहा, "यह तो बड़ा जुल्म किया महीप ने।"

निराशा से हाथ हिलाते हुए मोहनसिंह बोला, "अरे भई, कौन किसी का होता है इस दुनियाँ में, सबको अपने स्वार्थ की ही चिन्ता होती है। महीप कौन देवता था!"

वीरेन्द्र उनके पास ही बैठा था, कटुता से बोला, "अरे, काम करते करते तो हम मर जाते थे, महीप भैय्या कुर्सी तोड़ने के सिवाय करते ही क्या थे? लेकिन यश मिले तो महीप भैय्या को, और बदनामी हमारे सिर पर!"

किशनचन्द ने डाँटकर कहा, 'क्या बक रहे हो, वीरेन्द्र, देवता-स्वरूप भाई पर इस प्रकार का लाछन लगाते शर्म नहीं आती तुम्हें?"

वीरेन्द्र ने उत्तेजित होकर कहा, "अब चुप ही रहने दो, किशन भैय्या, ज़बान मत खुलवाओ। भैय्या को भला हम जानते नहीं थे? काम करते-करते मर जाते थे, लेकिन सिवाय डाँट-फटकार के ।"

"वीरेन्द्र!"

श्यामलाल ने गर्म होकर कहा, "तुम चुप रहो, किशनचन्द! जिस पर जुल्म होगा, वह आवाज़ उठायेगा ही.! यह सबूत दिया है महीप ने अपने देवतापन का?"

किशनचन्द ने फिर विरोध किया, "माना कि महीप ने इस बार ग़लती की, लेकिन उसने जो ज़िंदगी-भर दूसरों के लिए किया ।"

दीनदयाल ने बात काटकर कहा, "हर कोई अपने लिए ही करता है, किशनचन्द!"

किशनचद अवाक्, स्तम्भित उसकी ओर देखता रह गया। यह वही दीनदयाल था जो अभी उस दिन महीप के सामने गिड़गिड़ाकर कह रहा था, "कल ही मेरी बेटी की शादी है महीप भैय्या, और अब वे लोग कहते हैं कि हम नक़द सात हज़ार के बजाय दस हज़ार से एक पैसा कम नहीं लेंगे। मेरी इज़्ज़त का सवाल है महीप भैय्या, मेरी नाक कट जायगी!" महीप ने एक क्षण सोचकर चैक काटते हुए कहा था, "अरे, तो इसमें घबड़ाने की क्या ज़रूरत है, दीनदयाल? जैसी तुम्हारी इज़्ज़त वैसी मेरी इज़्ज़त! लो यह तीन हज़ार का चैक, काम चल जायगा न?"

दीनदयाल महीप के गले लगकर कृतज्ञता से फूट-फूटकर रो पड़ा था,

लेकिन ग्राज वही दीनदयाल ।

ग्रौर ये मोहनसिंह ग्रौर शान्तिमोहन । किशनचंद का जी भर ग्राया। जब वीरेन्द्र ग्रौर सोमेश ही इतने कृतघ्न निकले तो बाकी दुनियाँ से क्या शिकायत ?

कुछ देर चुप रहकर वीरेन्द्र चुनौती देते हुए बोला, "देखता हूँ कैसे हो पायेगा यह ! ग्रदालत के, न्याय के द्वार बन्द नहीं हैं।"

किशनचंद ने चौंककर पूछा, "क्या कहा, तुम मुकदमा चलाग्रोगे ?"

वीरेन्द्र बोला, "इसमें चौंकने की क्या बात है ?"

किशनचंद ने गर्म होकर कहा, "कानून इस मामले में तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता।"

सोमेश कटुता से बोला, "ग्रब तुम चुप ही रहो, किशन भैय्या, बहुत कानून मत बघारो।"

किशनचंद ने क्रोध से पागल होकर कहा, "तुम किस बात पर जायदाद में हिस्सा माँगने चले हो, सोमेश ? याद हैं वे दिन जब ग्रपने पिता की मृत्यु पर तुम ग्रनाथ हो गये थे ? महीप ने तुम्हारे लिए जो किया, उसका खूब बदला दे रहे हो तुम !"

सोमेश खिसियाकर पीछे हट गया, पर शान्तिमोहन ने ग्रागे बढ़कर कहा, "ग्ररे, तो जिसे ग्रब तक बेटा कहकर महीप ने पाला, वसीयत लिखते समय उसका खयाल क्यों नहीं ग्राया उन्हें ? तो वह सब क्या दिखावा था ?"

वीरेन्द्र ने एक बार फिर चुनौती दी, "खैर, इस सबका फैसला ग्रदालत ही करेगी !"

दूसरे कमरे में मूर्छित-सी बैठी नीरजा यह सब सुन रही थी। एक-एक शब्द उसके दिल को छलनी-छलनी कर रहा था। उफ़, क्या सुन रही है वह ? कुछ ही देर पहले जो लोग उन्हें देवता कह रहे थे, ग्रब वे ही । तो क्या इंसान सिक्के के ग्रतिरिक्त कुछ नहीं रह गया ? उफ़, विश्वास नहीं होता, पर ग्रपने ही कानों पर ग्रविश्वास कैसे करे वह ?

ग्राखिर नहीं रहा गया तो किसी तरह दीवार का सहारा लेते हुए कमरे में ग्राकर करुण-स्वर में वह बोली, "ग्रभी उनको गए देर ही कितनी हुई है, वीरू भैय्या, उनकी ग्रात्मा को तनिक तो शांति लेने दो।"

वीरेन्द्र ने उपेक्षा से मुँह फेर लिया—उँह, ग्राई बड़ी उपदेश देनेवाली,

सो चूहे खाकर बिल्ली चली हज को ! नीरजा को वे दिन याद आए जब प्यार से विभोर होकर वीरेन्द्र उससे कहा करता था, "मैंने क्या खोया भाभी, एक माँ गई तो तुम्हारे रूप में दूसरी माँ मिल गई !"

नीरजा की आँखें फिर छलकने लगीं, किन्तु वीरेन्द्र उसी उपेक्षा-भाव में होंठ चबाता रहा और सोमेश खूनी आँखों से उसे घूरता रहा।

किशनचन्द से रहा नहीं गया, रुँधे कंठ से तनिक अधिकारपूर्ण स्वर में बोला, "तुम यहाँ क्या करने आई हो भाभी, चलो अन्दर आराम करो। मेरे रहते कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता !"

क्रोध से पागल होकर वीरेन्द्र उठ खड़ा हुआ, सोमेश की आँखें लाल हो गईं और सारा जनसमूह एक-दूसरे की ओर इस तरह देखने लगा मानो कह रहा हो—*कम्बख्त बटा आया हिमायती बन के !*

नीरजा फूट-फूटकर रो पड़ी, "तो तो दुनिया में क्या एक ही नाता, एक ही रिश्ता है, किशन भैय्या—चाँदी के सिक्कों का ?"

पर वे लोग उसकी सुनें तब न, वे तो मन्त्रणा करने में व्यस्त थे कि महीप की इस पाशविकता का, अत्याचार का करारा जवाब किस तरह दिया जाए।

जाने कहाँ से नीरजा में कोई शक्ति आ गई, पागलों के समान वह पास पड़े सदूक की चीजें बाहर फेंकने लगी। किशनचंद ने आगे बढ़कर कहा, "क्या कर रही हो भाभी, होश में आओ।"

"जिन्दगी में आज पहली बार तो होश में आई हूँ, भैय्या ।" जाने *क्या था उन सूनी आँखों में कि किशनचंद पत्थर के बुत की तरह खड़ा रह* गया।

कागज का एक पुलिंदा फेंकते हुए नीरजा चीखकर बोली, "लो, पापियो, यह है वसीयतनामा !"

सारे जनसमूह में हलचल-सी मच गई। वीरेन्द्र ने लपककर पुलिंदा उठाया तो उसके हाथ से उसे छीनते हुए सोमेश बोला, "मैं पढ़ता हूँ।"

सब सोमेश को घेरकर खड़े हो गये और सोमेश जोर-जोर से वसीयतनामा पढ़ने लगा, "मैं, महीप कुमार, पूरे होश-हवास में, अपनी इच्छा से, अपनी मृत्यु के पश्चात् अपनी पत्नी नीरजा, भाई वीरेन्द्र और बेटे सोमेश को अपनी सारी सम्पत्ति के बराबर के उत्तराधिकारी नियुक्त करता हूँ ।"

"अब तो खुश हो, भैय्या ?" चीखकर नीरजा मूर्छित हो गई।

सबको जैसे लक्वा मार गया हो, बुत की तरह एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। आखिर किशनचद चिल्लाकर बोला, "अरे, कोई पानी तो लाओ।"

सोमेश भागकर पानी ले आया, वीरेन्द्र चम्मच मे ब्रांडी डालने लगा और मोहनसिंह चिल्लाकर बोला, "अरे, सब उसे घेरकर क्यो बैठ गये हो, उसका दम नही घुट जायगा ? पखा कहाँ है ?"

नीरजा ने आँखें खोलीं, तो सोमेश ने प्यार का अभिनय करते हुए कहा, "अब क्या हाल है, भाभी ?"

वीरेन्द्र ने चिल्लाकर कहा, "कहाँ गया अनिल का बच्चा ? यह सारी शरारत उसी की थी। बदतमीज़, नामाकूल आने तो दो उसे !" फिर आँखें पोंछते हुए बोला, "मुझे माफ कर दो, भाभी, आवेश मे आकर अपने देवता-तुल्य भैय्या के लिए जाने क्या-क्या कह गया।"

ब्रांडी का चम्मच नीरजा को देते हुए सोमेश बोला, "कब तक रोती रहोगी, भाभी ? दादा नही रहे, पर हम तो जिन्दा हैं !"

घृणा से नीरजा ने उसका हाथ झटक दिया तो खिसियाकर सोमेश पीछे हट गया।

शातिमोहन ने नाक सिकोड़ते हुए कहा, "ऐसे देवता-पुरुष पर इस प्रकार का आरोप छि !"

गद्गद् स्वर मे मोहनसिंह बोला, "देवता और किसे कहते हैं !"

शातिमोहन ने सिर झुकाकर कहा, "ऐसे महान् पुरुषो का तो स्मारक बनना चाहिए !"

किशनचद अब तक सारे नाटक को, हृदय-परिवर्तन के इस महान् दृश्य को एक मूक दर्शक के समान देखता रहा था, व्यग्य से बोला, "नई यह मानना पड़ेगा कि अभिनय-कला मे तुम लोग खूब पारगत हो !"

दीनदयाल तिलमिलाया, "बहुत बोलो मत किशनचद, महीप तुम्हारा दोस्त था, तो हमे भी ग़ैर नहीं मानता था।"

शातिमोहन ने मुँह बिचकाकर कहा, "उँह, बड़ा आया उपदेशक कहीं का !"

वीरेन्द्र को बल मिला, गला साफ़ करते हुए बोला, "जैसे भैय्या के साथ हमारा तो कोई सम्बन्ध ही न था।"

सोमेश को बड़प्पन दिखाने का मौका मिला, "क्या हो गया है आप सबको ? लड़ने-झगड़ने से पहले कम-से-कम अवसर और परिस्थिति का तो ध्यान रख लिया करें।"

नीरजा का दम घुटने लगा। उफ, कितनी आसानी से, गिरगिट की तरह रंग बदलते हैं ये लोग ! जिन्दगी का, इसानियत का एक ही माप-दंड है इनके पास— सिक्का, और केवल सिक्का ! उसके दिल में दर्द की एक लहर सी उठी कि दीवार का सहारा लेकर पागलों की तरह वह बोली, "मेरा हिस्सा भी इन्हीं के नाम करवा दो, किशन भैय्या, ताकि ये लोग उन्हें और भी बड़ा देवता मान सकें !"

३

मन के मोड़

साढ़े नौ बज जाने पर भी जब राकेश घर नहीं लौटा, तो खीझकर रीता चारपाई पर लेट गई। नौकर काम समाप्त करके चला गया था, लेकिन अँगीठी में आँच अभी बाकी थी। खाना गर्म न हो तो राकेश के गले से नीचे नहीं उतरता, इस कारण उसके आने तक अँगीठी जलती रखनी पड़ती थी। खाना गर्म करने और खिलाने में साढ़े दस बज जाते, तब कहीं रीता फारिग हो पाती। एक दिन की बात होती तो सह ली जाती, लेकिन सब्र की भी तो कोई सीमा होती है आखिर। भला यह भी कोई बात है कि पत्नी तो पति की राह में पलक-पाँवड़े बिछाए-बिछाए थक जाय और पति महोदय यार-दोस्तों के साथ या पार्टियों में मौज उड़ाते फिरें। आखिर पत्नी की भी उमगें होती हैं, हसरतें होती हैं। सोचते-सोचते रीता की आँखें भर आईं—धरती के कठोर यथार्थ से टकराकर उसके सारे सपने चूर हो गए थे।

राकेश आया तो पत्नी को चारपाई पर लेटा देखकर ज़रा खाँसा, किन्तु रीता उठी नहीं। करवट बदलकर उसने राकेश की ओर पीठ कर ली। दो क्षण चुप रहने के पश्चात् एक लम्बी साँस खींचकर राकेश बोला, "भला यह भी कोई ज़िन्दगी है कि इन्सान को साँस तक लेने की फुरसत न हो!"

रीता चुप रही, किन्तु वह कहता गया, "लेकिन काम नहीं करे तो इन्सान आखिर जिए कैसे? पेट की समस्या को हल कैसे करे? पाँच बजे उठा ही था कि सेक्रेटरी ने एक ज़रूरी काम सौंप दिया।"

रीता फिर भी चुप। आखिर चारपाई पर बैठकर राकेश ने पत्नी को मनाते हुए कहा, "रूठ गई क्या?"

रीता ने उसका हाथ झटक दिया तो उस पर तनिक झुककर, हँसकर वह बोला, "सच, रीता, गुस्से में तुम बहुत सुन्दर लगती हो!"

रीता और नहीं सह सकी, रुँधे कंठ से बोली, "तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, और न सताओ मुझे। खाना खाना हो तो गर्म कर दूँ, वरना पेट तो भरकर ही आये होगे तुम।"

"अरे, तुम रो रही हो ?"

"तुम दिखावा क्यो करते हो, जी ?" खीभकर रीता ने तीखे स्वर मे कहा, "तुम्हें जितनी परवा है मेरी, वह मैं खूब जानती हूँ।"

"अब तुम्हें तो रीता ।"

"हाँ, हाँ, बकने की आदत हो गई है मुझे, यही न ? ऊब गये हो मुझसे, तो किसी को ले आओ न, जिन्दगी चैन से कटेगी तुम्हारी !"

राकेश को क्रोध आ गया, "सो तो करना ही पडेगा। रोज-रोज की इस भिक-भिक से तो मैं तग आ गया हूँ। दिन-भर की थकान के बाद इसान घर आता है कि दो क्षण हँस सके, बोल सके, लेकिन धिक्कार है ऐसी जिन्दगी को !"

रीता दबी नही, बोली, "क्यो बहाने बनाते हो ? बोलो, आज सुनील के साथ पिक्चर नही गये थे तुम ?"

राकेश कुछ झेंप-सा गया, बोला, "गया तो था। काम करके उठा ही था कि वह पीछे पड गया क्यो, तुम्हें सुनील मिला था क्या ?"

रीता लेकिन कहती गई, "इसमे तुम्हारा भी क्या अपराध ? यार-दोस्तो से छुट्टी मिले, तब न ! भले ही पत्नी इतजार करते-करते ।"

झेंप मिटाने के लिए स्वर को जरा कठोर बनाकर राकेश बोला, "हर वक्त व्यग्य करने की आदत हो गई है तुम्हारी। मेरा जहाँ जी चाहेगा जाऊँगा, जब जी चाहेगा लौटूँगा। सुना ?"

उस रात खाना किसी ने नही खाया। राकेश कपडे बदले बिना ही सो गया और रीता सारी रात अपने भाग्य को कोसती रही। आखिर क्या करे वह, पत्नी के अधिकार का परित्याग कैसे कर दे वह ? आखिर वह भी तो इन्सान है !

करवटें बदलते-बदलते किसी तरह रात कटी, किन्तु राकेश देर तक सोता रहा तो डरते-डरते वह पास जाकर बोली, "क्यो, आज चाय नही पियोगे क्या ?"

राकेश चुप !

"अब उठो भी," स्वर को कोमल बनाकर वह बोली, "ऑफिस को देर हो रही है।"

राकेश ने सुलह कर लेना ही ठीक समझा। अँगडाई लेते हुए बोला,

"अरे, इतनी देर हो गई और तुमने जगाया नहीं !"

रीता ने चैन की साँस ली—इनमें एक गुण है कि किसी बात की गाँठ नहीं बाँध लेते, बोली, "बस अब तुम जल्दी से मंजन कर लो तो मैं चाय मेज पर रखूँ।"

शाम को राकेश घर जल्दी आ गया तो रीता खिल गई, "क्यों, कल की डाँट से डर गए क्या, जो आज इतनी जल्दी आ गए ?"

राकेश ने उत्तर नहीं दिया, फिर आरामकुर्सी पर बैठकर थके स्वर में कहा, "एक कप चाय तो देना, रीता !"

कुछ चिन्तित-सी हो रीता ने पूछा, "क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

"कुछ नहीं, वैसे ही जी जरा मिचला रहा है।"

"जाने क्या खा आते हो तुम हर रोज रेस्तोरां में ! पेट खराब नहीं होगा तो क्या होगा ! रोज़ कहती हूँ, पर मेरी तुम सुनो, तब न !"

"अरे, मुझे चाय का प्याला तो दे दो पहले।"

चाय का प्याला मेज पर रखकर रीता फिर बोली, "अब कुछ दिन परहेज करो। आखिर इस तरह शरीर कब तक साथ देगा ?"

राकेश चिढ़ गया, बोला, "तुम तो उपदेश देने का मौक़ा ढूँढ़ती हो जैसे। बस बहाना चाहिए तुम्हें नुक्ताचीनी करने का।"

रीता को ठेस-सी लगी, "भला मैंने ऐसी क्या बात कह दी जो...?"

"मुझे और परेशान मत करो, रीता, मुझे आराम करने दो !"

अपमानित सी रीता दूसरे कमरे में चली गई। आँखें उसकी छलक रही थीं। अपमानित, उपेक्षित जिन्दगी का बोझ कब तक ढो पायेगी आखिर वह ?

रीता को उस दिन की याद आई। रविवार का दिन था। हल्की-हल्की फुहार पड़ रही हो, ठंडी-ठंडी हवा बह रही हो तो राकेश को नशा-सा हो जाता है। सिगरेट पीने का मोह वह संवरण नहीं कर पाता। एक पैकेट फूँक चुका तो रामू को पैसे देते हुए बोला था, "एक पैकेट गोल्ड-फ्लेक !"

आवाज सुनकर रीता उसके पास चली आई थी, "अब बस भी करो !"

उसे अपनी ओर खींचते हुए वह बोला था, "चाय रामू अपने-आप बना देगा, तुम यहाँ बैठो मेरे पास !"

रीता को रोमांच हो आया था, रूठने का अभिनय करते हुए बोली थी,

"रहने दो अपना यह प्यार, आज तक मेरी एक भी बात मानी है तुमने कभी ?"

"अरे, तुम्हारी कोई बात टालने का साहस है मुझमें ?" हँसकर वह बोला था। "कृष्णा बुआ की बात इतनी जल्दी भूल गईं ? बहू ने तो राकेश पर जादू कर दिया है, यही कहा था न उन्होंने ?"

रीता के दिल में गुदगुदी-सी होने लगी थी, पर अपने मन के भाव को दबाते हुए बोली थी, "उँह, रहने दो,-इतनी बार कहा कि इतनी सिगरेट मत पिया करो, पर तुमने तो कसम खा रखी है हर बात न मानने की !"

रामू के सिगरेट ले आने पर पैकेट खोलते हुए वह बोला था, "भई, तुम तो यों ही नाराज़ हो जाती हो, भला कोई बात भी हो।"

"तो तुम सिगरेट ज़रूर पियोगे ?"

सिगरेट सुलगाते हुए वह बोला था, "तुम तो भई, हर बात पर टोकती हो।"

रीता को चोट-सी लगी थी—इन्हें मेरी इतनी भी परवा नहीं है, अगर नहीं पीते तो क्या क़हर ढह जाता ? उसकी आँखें भर आई थीं। अपने को उससे छुड़ाते हुए वह बोली थी, "मुझे मत छुओ।"

आँसू देखकर वह चकित रह गया था, "यह क्या पागलपन है, रीता ?"

रीता की हिचकियाँ बँध गई थीं।

"अच्छा भई, नहीं पीता, अब तो खुश हो !"

रीता को लगा था कि जैसे राकेश ने व्यंग्य किया हो, बोला, "मेरे नाराज़ होने से क्या बनता-बिगड़ता है तुम्हारा !"

राकेश ने मज़ाक करने की कोशिश की थी, "आज पहली बार तुमने अक्ल की बात की है।"

आग में जैसे घी पड़ गया हो। रीता चीख उठी थी, "हाँ-हाँ, मैं फूहड़-गँवार तुम्हारे गले मढ़ दी गई हूँ, तो ले आओ न अपनी पसन्द की ! झगड़ा मिटे रोज़-रोज़ का !"

ज़ोर का एक कश खींचकर सिगरेट फेंकते हुए बोला था, "लो बाबा, अब तो मुस्करा दो।"

धुएँ के बादल उसके चेहरे से टकराए तो रीता ने नाक सिकोड़ ली

था। रुलाई उसकी बढ़ गई थी—कितना खीभकर सिगरेट फेंकी है इन्होंने, जैसे मैं इनके पथ की एक बहुत बड़ी बाधा हूँ। रुँधे कंठ से बोली थी, "पीते रहो, मैं कौन होती हूँ तुम्हें मना करने वाली!"

राकेश मनाता रहा था, किंतु रीता के होंठों पर मुस्कान नहीं आई, तो खीभकर वह बोला था, "सच, रीता, मैं तुम्हें आज तक नहीं समझ सका। झगड़ा करने का तो तुम कारण ढूँढती हो जैसे।" और पाँव पटकते हुए वह कमरे से बाहर चल दिया तो रीता के नयनाकाश में घिरे मेघ बरस पड़े थे।

अतीत से रीता वर्तमान में आई तो एक बार फिर वह फूट-फूटकर रो पड़ी। जाने क्या हो गया है इन्हें, चाहे इनके भले की बात कहूँ तब भी काटने को दौड़ते हैं। आखिर मैं इनकी पत्नी हूँ, देखकर आँखें कैसे मूँद लूँ, होंठ कैसे सी लूँ?

दूसरे दिन सुबह चाय पीते समय जब राकेश अपनी आदत के विपरीत एक शब्द भी नहीं बोला, तो चाय रीता के होंठों के अन्दर नहीं गई। उसने कनखियों से पति की ओर देखा। भृकुटियाँ तनी हुईं और भाव-मुद्रा कठोर! कुछ कहने की रीता की हिम्मत नहीं हुई, चुप देखती रही।

बिना कुछ कहे ही राकेश ऑफिस जाने लगा, तब किसी तरह डरते-डरते वह बोली, "सर्दी बढ़ गई है, स्वेटर तो पहन लो।"

राकेश चुप रहा तो अन्दर से स्वेटर लाकर वह बोली, "कल ही पूरा किया है मैंने, देखूँ तो कैसा लगता है।"

साइकिल पकड़कर चलने की चेष्टा करते हुए वह बोला, "मुझे जाने दो, देर हो रही है।"

उसका हाथ पकड़कर मनाते हुए वह बोली, "पहनने में देर ही कितनी लगेगी? कहीं हवा लग गई तो ।"

भल्लाकर, उसका हाथ झटककर वह बोला, "अपना भला-बुरा मैं खुद समझता हूँ रीता, हर बात में टाँग मत अड़ाया करो!"

रीता को जैसे उसने चपत मार दी हो। स्तम्भित-सी वह जाते हुए पति की ओर देखती रही। तो तो राकेश ऊब गया है क्या मुझसे? पर आखिर अपराध क्या है मेरा?

उस दिन उसने खाना नहीं खाया, भूख ही नहीं लगी। सारा दिन उसकी आँखों की गागर छलकती रही। जब जी कुछ हलका हुआ और अतीत

के मादक क्षणों, प्यार की बातों, वायदों-कसमों, प्रेमोपहारों की उसे याद आई तो रीता के हृदय में पति के प्रति प्यार का ज्वार-सा उमड़ आया। ओह, कितने अच्छे हैं ये! कितना प्यार करते हैं मुझे! हां, क्रोध आता है तब जो जी में आता है, कह जाते हैं, सोचते नहीं। पर हां, इंसान उसी से तो नाराज़ होता है जिस पर कुछ अधिकार हो। क्रोध प्यार का भी तो सूचक है!

रात को देर से जब राकेश घर आया तो रीता सारा क्रोध भूल चुकी थी। खाना परोसकर उसके हाथ धुलाते हुए वह बोली, "कितने दुबले होते जाते हो तुम, दोपहर में फल क्यों नहीं खा लेते?"

राकेश की भृकुटियाँ फिर तन गईं। कुछ क्षण पश्चात् रीता बोली, "अब अपने लिए दो चार पैंटों का कपड़ा ले आओ, पुरानी तो सब फट गई हैं।" और फिर प्यार से विभोर होकर, "तुम तो एकदम बच्चे हो, ज़रा भी खयाल नहीं रखते अपना!"

राकेश का सुबह का क्रोध अभी उतरा नहीं था। वह झुंझला उठा—उठते-बैठते, सोते-जागते उपदेश, नुक्ताचीनी, आखिर कोई सीमा भी हो! एकदम मूर्ख समझ लिया है मुझे। तीखे स्वर में बोला, "मैं कहता हूँ, तुम अपनी यह आदत कब छोड़ोगी? हर रोज की किचकिच से मैं तंग आ गया हूँ, पर तुम पर असर ही नहीं होता!"

रीता स्तम्भित रह गई, बोली "मैंने आखिर क्या कह दिया जो।"

"हाँ-हाँ, तुम तो कभी कुछ कहती नहीं हो, मेरा ही दिमाग़ खराब हो गया है।"

रीता सिसकने लगी, "जाने क्या हो गया है तुम्हें। चाहे कुछ कहूँ, काटने को दौड़ते हो।"

"अब तुम चुप रहोगी या।"

सिसकते सिसकते वह बोली, "तुम्हारी कसम जो कभी तुम्हारी किसी बात में दखल दूँ।"

राकेश को दया नहीं आई, बोला, "बहुत कृपा होगी आपकी, कुछ चैन तो मिलेगा।"

रीता चारपाई पर लेट गई। मेघ फिर उमड़े, फिर बरसे और रीता की आँखें नहाती रहीं उसमें, गलती रहीं।

सुबह हुई, यन्त्रवत रीता उठी, रसोई में गई और चाय मेज़ पर रख दी। राकेश ने कनखियों से उसकी ओर देखा, वह चुपचाप चाय पी रही थी। राकेश को रह रहकर अपने पर क्रोध आ रहा था–आखिर क्या हो गया था उसे कल रात। और कोई बात नहीं सूझी तो बोला, "मैं टोस्ट नहीं लूँगा आज।"

और कोई दिन होता तो रीता सुनकर चौंक उठती, खाने के लिए आग्रह करती। पर आज वह कुछ बोली नहीं, चुपचाप चाय पीती रही। राकेश को कुछ अजीब-सा लगा, पर सोचकर उसे खुशी हुई—दिमाग ठिकाने आ गया लगता है।

ऑफिस जाने से पहले खाना खाते समय रीता उसकी कटोरी में गोभी और डालने लगी तो हाथ से रोककर उसने कहा, "बस, और कुछ नहीं लूँगा।"

और कोई दिन होता तो रीता कहती, "अरे, तुमने खाया ही क्या है आज ?" पर आज वह अपना बढ़ा हुआ हाथ पीछे करके वापस रसोई की ओर चल दी। दरअसल राकेश का पेट भरा नहीं था, पर मना कर चुका था, इसलिए दुबारा माँगने में आज उसे न जाने क्यों झिझक आ गई। दो क्षण वह बैठा रहा, शायद रीता दुबारा पूछने आए। पर वह नहीं आई तो झुँझलाकर वह उठ खड़ा हुआ—अकड़ खत्म नहीं हुई अभी, सोचती होगी मैं मनाने आऊँगा, हुँह।

रात को उसे घर लौटने में दस बज गए। सारे रास्ते वह बहाना सोचता आया। कह दूँगा कि भई, इंस्पेक्टर आ रहा है कल, सो हिसाब किताब ठीक करने में इतनी देर लग गई। या कि, भई, कपूर कई रोज़ से बीमार है, फर्ज़-अदायगी के लिए उसे देखने जाना पड़ा, और बीमार आदमी के पास से तो, तुम जानती ही हो, जल्दी उठना कितना मुश्किल होता है। और या। डरते-डरते उसने कदम अन्दर रखा, दीवार के साथ साइकिल टिकाई और कमरे में जाकर वह कपड़े बदलने लगा। पति को देखकर रीता खड़ी हो गई, फिर बोली, "खाना परोसूँ ?"

सुनकर राकेश को आश्चर्य हुआ। एक गहरी नज़र उसने पत्नी पर डाली। उसके चेहरे पर क्रोध या असंतोष की एक भी रेखा न थी, मुद्रा एक दम भावहीन। राकेश ने चैन की साँस ली, फिर कहा, "हाँ, सुबह से कुछ-नहीं खाया है आज।"

रीता खाना परोस लाई। दोनो चुप खाते रहे। राकेश ने उसकी ओर देखा, वह पानी पी रही थी। उसके मन मे एक अजीब-सी उथल-पुथल होने लगी—यह कुछ बोलती क्यों नही, देर से आने का कारण क्यो नही पूछती ?

रीता ने पति की थाली की ओर देखा, दाल खत्म हो गई थी। वह दाल डालने लगी तो राकेश के मुँह से फिर निकल गया, "नहीं, बस !"

रीता ने फिर प्रतिवाद किए बिना ही हाथ पीछे कर लिया तो उसे चोट-सी लगी, फिर दबे स्वर मे बोला, "अच्छा, थोडी-सी दे दो !"

रीता ने दाल उसकी कटोरी मे डाल दी।

अपनी-अपनी चारपाई पर दोनो लेट गए तो राकेश को जाने क्यों घुटन-सी महसूस होने लगी। आखिर क्या हो गया है रीता को, मैंने आखिर ऐसी क्या बात कह दी थी जो . । आखिर मैं उसका पति हूँ। बोले बिना जी नहीं माना तो बोला, "क्यो, सो रही हो क्या ?"

"नहीं, कोई काम है ?"

राकेश चुप हो गया। अब कोई काम हो तभी वह उसे बुला सकता है ?

फिर बोला, "क्यो, तबियत तो ठीक है ?"

"हाँ, क्यो ?"

राकेश तिलमिला सा गया। क्या हो गया है इसे, जैसे बोलना ही भूल गई हो। एक लम्बी चुप्पी के बाद सुलह का हाथ बढाते हुए बोला, "कल पिक्चर देखने चलोगी, क्या ?"

पिक्चर देखने की शौकीन रीता बचपन से ही है, जब तक सप्ताह मे एक पिक्चर न देख ले, उसे चैन नही पडता। पर आज उसके स्वर मे कोई उत्साह न था, बोली, "हाँ, देख लूँगी।"

राकेश का सारा उत्साह ठडा पड गया, करवट बदलते हुए बोला, "कल मेरे ऑफिस से आने तक तैयार हो जाना।"

फिर वही सक्षेप मे, "जी !"

दूसरे दिन सुबह चाय पर भी वही चुप्पी, वही घुटन, वही उमस ! रीता यन्त्रवत् कार्य करती रही, जैसे उसकी अपनी कोई इच्छा न हो, कोई अधिकार न हो। देखकर राकेश को फिर क्रोध आ गया—उँह, दिमाग आसमान पर चढ गया है, जितना मनाओ, उतना ही ऐंठती जाती है।

शाम को जान-बूझकर वह पिक्चर के लिए घर नही आया—करतो

रहे इंतजार, मेरी बला से । रात को वह मंडप के लिए तैयार होकर आया। आज मैं बता दूँगा कि पत्नी के इशारों पर नाचने वाले कोई और होते हैं, हो किस ख्याल में तुम ?

रीता की आँखें छलक-सी रही थीं। देखकर राकेश को संतोष सा हुआ। पर उसने कोई शिकायत नहीं की, तो राकेश को निराशा हुई। उसके कुछ कहने की प्रतीक्षा करके वह बोला, "एक जरूरी काम पड़ गया था रीता, इसलिए ।" उसके स्वर में जो औपचारिकता, शिष्टता थी, उस पर स्वयं राकेश को आश्चर्य हुआ।

रीता ने प्रतिवाद नहीं किया, कहीं फिर राकेश को क्रोध आ गया तो । बोली, "कोई बात नहीं।"

खाना किसी तरह निगल तो वह गया, पर उस रात वह सो नहीं सका। एक अभाव-सा, दर्द-सा महसूस होने लगा उसे। जैसे अपने ही घर पराया हो गया हो वह। जैसे इन दो-तीन दिनों में दुनियाँ बदल गई हो, प्यार के वे नाते कच्चे धागे की तरह टूट गए हों, जिंदगी जैसे दम तोड़ रही हो। उसने दिल को समझाने की, मुस्कराने की कोशिश की—अरे, क्या हो गया है मुझे ? भला प्यार भी कभी मरता है ?

लेकिन रीता की उदासीनता की याद आई तो उसे लगा कि वह उपेक्षा से मुस्करा रही हो जैसे, उस पर व्यंग्य कर रही हो। राकेश के दिल में एक ज्वार-सा उठा, उसने होठ भींच लिए। जिंदगी के प्रति इतनी उदासीनता, इतनी अनास्था, इतनी विरक्ति उसने कभी अनुभव नहीं की थी। सूने मन से वह रीता की ओर देखता रहा, वह सो रही थी, निश्चिंत, निर्लिप्त !

दूसरे दिन राकेश ने देखा, रीता की साड़ी का रंग फीका पड़ गया था और वह कई जगह से फट गई थी। देखकर राकेश को फिर दर्द-सा हुआ। साड़ी फट गई है तो रीता नई साड़ी के लिए तकाजा क्यों नहीं करती ? वह भूल गया कि एक बार चिढ़कर उसने रीता से कहा था, "बहुत तकाजे मत किया करो, रीता !"

चुप्पी को दूर करने के लिए वह बोला, "अरे, साड़ी फट गई है तो दो-तीन नई साड़ियाँ क्यों नहीं खरीद लेती ?"

प्यार के दो शब्द सुनकर रीता के चेहरे पर कांति-सी आई, फिर बोली, "अभी जरूरत नहीं है, फिर खरीद लूँगी।"

दर्द और बढ़ा। आखिर रीता मचलकर, मेरी बाँह पकड़कर कहती क्यों नहीं, कि चलो, अभी खरीद कर दो ! राकेश से सहन नहीं हुआ, काँपते होठों से बोला, "तुम मुझ से ऊब गई हो, रीता ?"

वह चौंकी, 'क्या कह रहे है आप ?"

"तुम मुझे इतना पराया समझती हो, मैंने कभी नहीं सोचा था।"

"क्या हो गया है तुम्हें, आखिर कोई बात भी हो।"

पर राकेश उसी लहजे मे बोला, "तुम्हारी यह उपेक्षा, उदासीनता मैं बच्चा नहीं हूँ, रीता। तुम नाता तोडना चाहती हो, तो मेरी ओर से तुम पर कोई प्रतिबन्ध नहीं।"

रीता सकते मे आ गई, रुँधे कंठ से बोली, "क्या कह रहे हो तुम, तुम्हारे सिवाय मेरा और कौन है इस दुनिया मे ?'

अब की राकेश के चौंकने की बारी थी, "अरे, तुम रो रही हो ?"

रीता की हिचकियाँ बँध गई, बोली, "आखिर क्या चाहत हो तुम ? कुछ कहूँ तो मुसीबत, न कहूँ तो मुसीबत !"

राकेश को आशा की एक किरण दिखाई दी, बोला, "सच कहो, रीता ! तुमने इन तीन-चार रोज से मुझ से यह जो नाता तोड रखा है ।"

बीच मे ही रोककर रुँधे कंठ से वह बोली, "नाता मैंने तोडा है या तुमने ? तुम्हीं ने मना किया था कि तुम्हारी बातों मे दखल न दिया करूँ ! इन तीन-चार दिनों मे कितनी मानसिक यातना भोगी है मैंने !"

'तो तो रीता !" हर्ष के अतिरेक मे राकेश काँप उठा। और रीता ने अपनी रोती हुई आँखें उसके वक्ष मे छिपा ली।

४

केम्रन साहब

आप इसे मेरी कमजोरी कह लीजिए या जीवन
पर से मेरा विश्वास कुछ डिग-सा गया था।
अभिनय के सिवाय और कुछ नहीं। पर जब मैं
आया तब जैसे मुझे नई रोशनी देखने को मिली
पहली शर्त है। उनकी सी सरलता, जिसका न
खिझाने और तंग करने मे हमे विशेष आनन्द प्राप्त
मिलो। उनकी नजर बराबर सारी क्लास—के
मे हमारे अग्रेजी के प्रोफेसर थे—एक-दूसरे को
करने और खिलखिलाने मे व्यस्त रहती, पर कैप्र
करके सारे कमरे को बच्चो के-से मुक्त हास्य
चेहरे पर वेदना की गहरी रेखाएँ खिच जाती औ
पश्चात् एक लम्बी साँस भरकर कहते, "मेरे
सीखोगे कि नहीं ?"

क्रोध उन्हें बहुत कम आता था, पर क्रोध आ
डेस्क पर भूलने लगते, चेहरा उनका अगारे-सा लाल
आग निकलने लगती और सारी क्लास मे मौत का-स
क्या कैप्रन साहब भी क्रोध कर सकते हैं।

किन्तु उनको शान्त करना हम जानते थे। "मुझे
कहने-भर की देर होती कि वह एकदम शान्त हो जाते।
उनके चेहरे पर साकार हो जाती। "मेरे बच्चे, तुम मुझ
हो ? मैं मैं ," और शब्द अधूरे ही रह जाते, किन्तु उ
छिपे स्नेह और प्रेम की छाप हमारे दिल पर आज भी अंकित

मुझे वह दिन कभी नहीं भूलेगा। उस दिन सारी क्लास
हुई थी और कैप्रन साहब बार बार एक के बाद एक से चुप रह
कर रहे थे। किन्तु सरल व्यक्तियो के लिए हमारे दिल मे श्रद्धा

मने कितना ही हो, उनको खिझाने मे एक विशेष आनन्द आता है। वह बेचारे बडे परेशान थे। इतने मे अवस्थी ने मुझसे कागज का एक पन्ना मांगा। मैं देने ही लगा था कि केप्टन साहब डेस्कों से भूलते, क्रोध से कांपते मेरी ओर आये, "तुम्हें आखिर शर्म आएगी कि नही ? जितने बडे होते जाते हो तुम, उतने ही बदतमीज, और और और कोई होता तो शर्म से डूब मरता।"

सारी क्लास मे सन्नाटा छा गया था। मैं सिर झुकाए चुप सुनता रहा, आखिर कोशिश करके बडी मुश्किल से बोला, "सर, मैं तो अवस्थी को कागज दे रहा था, मैंने उनसे बात बिलकुल नहीं की।"

केप्टन साहब सकते मे आ गए, "तो तो मैंने तुम्हें बेकसूर ही डांटा ?" और पश्चात्ताप की वह प्रतिमूर्ति बन गए, 'मुझे बहुत अफ़सोस है, सुरेन्द्र ! मैं क्षमा-याचना करता हूं। मुझे माफ कर दो, प्लीज़ फारगिव मी।"

सारी क्लास आंखें फाडे उनकी ओर देख रही थी। शर्म के मारे मेरे मुंह मे इसके अतिरिक्त शब्द ही नहीं निकल रहे थे, "सर, आप मुझे शर्मिन्दा कर रहे है, सर, आप ।" किन्तु वह थे कि कहते जा रहे थे, "आई बेग योर पार्डन, आई बेग योर पार्डन ।"

वह दृश्य मेरी आंखों के सामने आज भी नाच रहा है—मैं यदि चित्रकार होता तो उस दृश्य को अंकित कर देता। अपने ही शिष्य से इस प्रकार क्षमायाचना करने का साहस और महानता कितने लोगों मे है ?

उनकी महानता का एक और उदाहरण इसके कुछ रोज बाद मिला। सुशीलकुमार के पास किताब नहीं थी, इस कारण केप्टन साहब सुशील के डेस्क पर अपनी किताब रखकर पढ रहे थे और सुशील उन्हें हिन्दी मे एक के बाद एक गाली देता जाता था, "साला, यहीं आकर जम गया, टलता क्यों नहीं है ?"

किन्तु केप्टन साहब उसी प्रकार हँस-हँसकर, उछल-उछलकर पढाते और पूछते रहे, "क्यों, समझ रहे हो न, सुशील ?" और सुशील हर बार एक मोटी-सी गाली देकर कहता, "यस सर !"

घंटा खत्म हुआ तो उन्होंने सुशील के कन्धे पर हाथ रखकर प्यार से कहा, "जरा मेरे साथ तो आना, सुशील, काम है।"

सुशील ने एक मोटी-सी गाली देकर हिन्दुस्तानी मे कहा, "बाबा, अब तो पीछा छोडो।"

मैंने केप्रन साहब की ओर देखा। उनके होंठों पर वही बच्चों की-सी मधुर मुस्कान खेल रही थी। कुछ दूर सुशील को ले जाकर उन्होंने उसके कंधे थपथपाते हुए कहा, "अब जितना जी चाहे गालियाँ दे लो, मेरे बच्चे !"

सुशील धक्-सा रह गया, "सर, आपको गलतफहमी हो गई है सर सर मैं मैं ।"

अब केप्रन साहब हिन्दुस्तानी में बोले, "अरे डरते क्यों हो, मैं कुछ कहूँगा थोड़े ही !"

सुशील का खून जम गया। तो क्या केप्रन साहब हिन्दुस्तानी समझते हैं, आज तक तो उन्हें हिंदुस्तानी में बातें करते सुना नहीं। रंग उसका उड़ गया, हकलाते हुए उसने कहा, "सर सर आई एम सॉरी, सर मैं क्षमा-याचना करता हूँ, सर ! मुझे बहुत अफसोस है, सर !"

केप्रन साहब दो क्षण चुप रहे, फिर धीरे-धीरे वेदनामय स्वर में बोले, "तुम्हें इतना तो खयाल होना ही चाहिए, सुशील, कि तुम सारे हिन्दुस्तान को एक विदेशी की निगाह में गिरा रहे हो। अच्छा जाओ, ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे (मे गॉड ब्लेस यू) ।"

दूसरे दिन सुशील के मुँह से यह सब सुनकर श्रद्धा से सिर झुक गया—हे ईश्वर, यह आदमी है या देवता ?

किन्तु उनको जब तक खिझा न लें, तंग न कर लें, हमें चैन कब आता था। केप्रन साहब लेक्चर देते जाते और हम परस्पर बातें करने, कोहनी मारने, हाथापाई करने में व्यस्त रहते। वह देखकर भी हर दो मिनट पर किसी न किसी से पूछ लेते, "सुन रहे हो न, सुरेन्द्र ? समझ में आ रहा है क्या, रवि ?" और हमारा हमेशा एक ही उत्तर होता, "आई एम लिसनिंग, सर (मैं सुन रहा हूँ, सर) !"

इसी प्रकार एक दिन मैं क्लास में एक उपन्यास पढ़ रहा था कि उन्होंने मुझे आवाज़ दी, "सुरेन्द्र !"

मैंने रटे तोते की तरह उत्तर दिया, "आई एम लिसनिंग सर," तो क्लास खिलखिलाकर हँस पड़ी।

मैं चौंका तो केप्रन साहब खिलखिलाए, "तुम क्या सुन रहे थे, मेरे बेटे, मैं तो तीन चार मिनट से चुप, तुम्हारी ओर देख रहा था।"

और वह मेरी ओर आये। मैं धक्-सा रह गया—हे ईश्वर, अब क्या

होगा, मेरे पास तो किताब भी नहीं, और कल ही उन्होंने चेतावनी दी थी मुझे कि पुस्तक न लाने पर क्लास से बाहर निकाल दिए जाओगे। उन्होंने देखा, देखकर वह एक क्षण चुप खड़े रहे और फिर जो कुछ सुना, सुनकर शर्म और श्रद्धा मे सिर झुक गया, "तुम्हें पुस्तक लाने मे तकलीफ होती है, सुरेन्द्र, तो चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे लिए पुस्तक ले आया करूंगा। लो, तुम मेरी पुस्तक ले लो," उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक देते हुए कहा।

हर मास के प्रथम सप्ताह की प्रतीक्षा हम बड़ी उत्सुकता से करते थे, क्योंकि फ़ीस देने के बहाने कम-से-कम तीन-चार दिन लगातार हम कॉफी हाऊस चले जाते और उनका घंटा समाप्त होने के दो-चार मिनट पहले आकर उनसे कहते, "आई वाज़ पेइंग माई फीस सर (मैं अपनी फ़ीस दे रहा था सर)!"

हमें इस बात का डर कभी नहीं होता था कि केप्रन साहब पूछ न लें कि भई, तुम तो कल भी, परसों भी और तरसों भी फीस ही देने गये थे, क्योंकि केप्रन साहब को यह सब याद रहे तब न! किन्तु एक दिन क्लास खत्म होने पर मेरे कंधे पर हाथ रखकर बड़े प्यार से उन्होंने पूछा, "तुम महीने मे कितनी बार फ़ीस देते हो, बेटे?"

मैं सकपका गया, "सर. सर।"

वह खिलखिलाए, "तुम लोग क्या समझते हो कि मुझे कुछ पता नहीं चलता? किन्तु तुम लोग," उनका स्वर वेदना से भर गया, "झूठ बोलकर अपने को स्वयं की निगाह मे क्यों गिराते हो?"

उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया और फिर वह आगे बढ़ गए। मैं अवाक् उनकी ओर देखता रह गया।

हर शनिवार को मेरा ट्यूटोरियल होता था और हर शुक्रवार को केप्रन साहब याद दिलाते, "कल तुम्हारा ट्यूटोरियल है सुरेन्द्र।"

मैं हर बार सिर हिला देता, "यस, सर!" किन्तु हर बार मैं उनके ट्यूटोरियल मे न जाता। मुझे याद है, प्रथम वर्ष मे मैं वर्ष-भर मे दो, द्वितीय वर्ष मे एक और तृतीय वर्ष मे तीन ट्यूटोरियल मे गया था।

यह नहीं कि केप्रन साहब को याद नहीं रहता था—दूर से ही वह आवाज़ लगाते, "चलो, आज तुम्हारा ट्यूटोरियल है न!"

सुनकर भी हम अनसुना कर जाते, किन्तु आसानी से छोड़ने वाले केप्रन साहब भी न थे। उछलते-कूदते लम्बे लम्बे डग भरते वह आते और कन्धे

पर हाथ रखकर कहते, "तुम क्या इस समय खाली हो, बेटे ? (आर यू फ्री माई सन ?)"

मैं सिर खुजलाने लगता, "यस सर, लेकिन कोई मुझसे मिलने आ रहा है।" अथवा "सर, आज मेरी तबीयत ठीक नहीं।"

वह सब समझते और खिलखिलाकर हँस पड़ते, 'तुम अव्वल नम्बर के बदमाश हो, सुरेन्द्र, परले दरजे के कामचोर !"

किन्तु इस पर जब कभी उन्हें क्रोध आता तब वह कांपने लगते, "यह हँसने की नहीं, रोने की बात है। तुम लोगों को अपना भला सोचने की अक्ल आएगी कि नहीं ?"

हम सिर झुकाए चुप सुनते रहते और जब वह बोलते बोलते थक जाते, तब धीमे से स्वर में पश्चात्ताप भरकर कहते, "मुझे इसका खेद है, सर !"

सुनकर हर बार वह संतोष की साँस लेते कि सचमुच बेचारे को कितना अफसोस है और अब वह कभी ऐसा नहीं करेगा। और वह मनाने लगते, "मैं तुम्हारे ही भले के लिए तो कहता हूँ, मेरे बच्चे !"

किन्तु हम कोई मामूली आदमी तो थे नहीं कि अपने परम प्रिय सिद्धान्तों का परित्याग इतनी आसानी से कर देते। कभी दूसरे-तीसरे महीने उनके हाथ में ट्यूटोरियल की कापी पकड़ा देते तो वह जाने क्यों कृतज्ञता से भर जाते, "थैंक यू वेरी मच (बहुत-बहुत धन्यवाद), थैंक यू वेरी मच !" मानो हम उन पर कोई अहसान कर रहे हों।

तीन वर्ष पलक झपकते कैसे बीत गए, हमें पता भी नहीं चला। कॉलेज में वह हमारा अन्तिम दिन था। हमारे दिल जैसे बैठते जा रहे थे—अब कभी हम वैसे ठहाके नहीं लगा सकेंगे, एक दूसरे की चाक के टुकड़े नहीं मार सकेंगे, हायातौबा नहीं कर सकेंगे, कैप्टन साहब की मीठी न तो सरल हँसी सुन सकेंगे और न उनके स्निग्ध स्नेह का अनुभव कर सकेंगे। अब कोई खिलखिलाकर प्यार से घूँसा लगाकर यह नहीं कहेगा, "ओ यू नाटी बॉय !" और अब कोई 'सॉरी' भर कह देने से हमारे बड़े-से बड़े अपराध को क्षमा नहीं कर देगा।

कैप्टन साहब आए तो मुस्कराए—उस माँ की तरह जो अपने बेटे से हमेशा के लिए विदा ले रही हो—"हूँ, तो आज तुम्हारा अन्तिम दिन है !"

हम कुछ बोल नहीं सके, जैसे गले में कुछ अटक-सा गया हो। वातावरण में एक अजीब सी उदासी छाई थी, जिसे कैप्टन साहब ठहाके लगाकर

हटाने की जितनी ही कोशिश करते, वह उतनी ही घनी होती जाती। आखिर हारकर बड़ी कोशिश करके वह बोले, "अरे बोलो भी, तुम तो जैसे बोलना ही भूल गए हो।"

हम चुप रहे तो केप्रन साहब चाक का एक टुकड़ा मुझे देकर बोले, 'क्यो, आज किसी को चाक नही मारोगे, सुरेन्द्र ?"

मैने देखा, केप्रन साहब रुलाई रोकने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। मेरी आँखें भर आई—तो क्या फिर केप्रन साहब को दुबारा कभी नही देख सकेंगे ?

घंटा खत्म हुआ तो उन्होंने हाथ उठाकर रुँधे गले से कहा, "गॉड ब्लेस यू, माई चिल्डरन (ईश्वर, तुम्हें सुखी रखे, मेरे बच्चो !)" और बिना किसी की ओर देखे वे अपने कमरे की ओर भागे।

मैं उनके कमरे मे गया तो देखा, केप्रन साहब न जाने शून्य मे क्या देख रहे थे और उनकी आखें छलछला रही थी। मुझे देखकर जल्दी से आँखें पोछकर मेरे दोनो हाथ दबाकर वह बोले, "तुम क्लास मे रो क्यो रहे थे, सुरेन्द्र ?" मैने रुलाई रोकने के लिए होठ भीच लिए।

उनका कंठ रुँध-सा गया।

कुछ क्षण पश्चात् किसी तरह मैने कहा, "अच्छा तो, सर ," तो उन्होंने मेरे कधे थपथपाए, "सुखी रहो, मेरे बच्चे !" और होठो से निकलती चीख को किसी प्रकार रोककर वह दूसरे कमरे की ओर भागे।

उस दिन के बाद केप्रन साहब को देखना सचमुच ही नसीब नहीं हुआ। सुना कि वह इंग्लैंड वापस चले गए—हमेशा के लिए। उनकी याद दिल मे एक हूक-सी पैदा करती है, किन्तु जीवन के प्रति आस्था, मानवता के प्रति अटूट विश्वास और गहनतम अधकार को चीरती हुई जो रोशनी केप्रन साहब के रूप मे हमने देखी थी वह हमेशा जलती रहेगी।

५

अपना-पराया

उस दिन सुबह से ही थानेदार साहब झुंझला रहे थे, "कम्बख्त यह आजादी क्या आई है, मार पीट, दंगा फसाद, चोरी-डकैती तो जैसे आम बात हो गई है। यह भी कोई नौकरी है, आखिर! कहने को तो सूरत देखकर सारा शहर कांप उठे, पर न दिन को चैन, न रात को शान्ति, लानत है इस हुकूमत पर!"

उन्होंने पाँव मेज पर फैला दिए, "छोटेलाल!"

छोटेलाल सिपाही आया तो उबासी लेते हुए वह बोले, "जरा एक कप चाय तो पिलाना, सारा जिस्म दर्द-सा कर रहा है।"

छोटेलाल बड़बड़ाने लगा, "चाय तो पिलाना, हूँह! एक कौड़ी तो कभी जेब से निकलती नहीं.. जाती बार छाती पर ही तो बांधकर ले जायगा जैसे!"

थानेदार साहब ने डपटकर पूछा, "क्या बकता है बे?"

छोटेलाल सकपका गया, "कुछ नहीं हुजूर, वह सामने चाय वाला है न, वह साला बहुत बदमाश है। चाय का प्याला बाद में देता है, पैसे पहले माँगता है और मुँह ऐसे बनाता है जैसे हम उसकी दुकान में सेंध ही तो लगाने गए हों!"

थानेदार साहब के रोम रोम में आग सी लग गई, "हूँ, तो अब चींटी को भी पर लगने लगे! शाम को याद दिलाना, बदमाश के सारे खानदान का बड़े घर की हवा न खिलाई तो," और होंठ चबाते हुए वह मूँछें ऐंठने लगे।

छोटेलाल चाय ले आया। सिगरेट का कश खींचकर थानेदार साहब ने प्याला होंठों से लगाया ही था कि किसी के चीखने-चिल्लाने की आवाज सुनाई दी। कठोर स्वर में वह बोले, "यह शोर किस बात का है, छोटेलाल?"

छोटेलाल बाहर होकर आया तो बोला, "हुजूर, मुहल्ला नाईवाला में दिनदहाड़े चोरी हो गई है। चोर घर का सारा जेवर ले गए है।"

"तो साने से कहो, रपट लिखाए, कानो के परदे क्यो फाड रहा है ? कम्बख्त हर वक्त एक नई मुसीबत पीछे लगी ही रहती है।"

छोटेलाल बाहर चला गया तो थानेदार साहब खर्राटे भरने लगे। भला पुलिस वाले भी कहाँ तक अपने को परेशान करें, यह कम्बख्त जनता पहले तो घोडे बेचकर सोती है, बाद मे पुलिस की नाक मे दम करती है—जाहिल कही की ! इसीलिए अभी उस दिन जब एक साहब चोरी की रिपोर्ट करने आये और शिकायत करने लगे कि थानेदार साहब, आपने जिन सिपाहियो की गश्त की ड्यूटी लगा रखी है, वे जाने कहाँ रहते हैं, उनकी सूरत तो कभी भूले भटके ही दिखाई देती है, तब थानेदार साहब ने झिडककर कहा था, "आखिर आप किस मर्ज की दवा हैं ? आप लोग अपनी चीजो की हिफाजत खुद नही कर सकते तो पच्चासी रुपये के सिपाही की ऐसी क्या मुसीबत पड़ी है जो ? वह भी आदमी है आखिर, चौबीस घटे पेटी कसे तो नही रह सकता। आखिर आप लोगों की भी तो कोई जिम्मेदारी होनी है।"

इस घटना को याद करके थानेदार साहब ने नाक सिकोडी। फिर सोते सोते वह सहसा चौंके, "छोटेलाल, कल वाला वह क़ैदी राह पर आया या नही ?"

"हुजूर, मार-मारकर भुरता बना दिया उसका, पर वह दुहाई देता है कि उसने कभी चोरबाजारी नही की।" फिर स्वर को जरा धीमा करके वह बोला, "हुजूर, मुझे भी वह बेगुनाह ही लगता है।"

थानेदार साहब ने झिडककर कहा, "क्या बकता है ?"

छोटेलाल डरकर पीछे हट गया तो थानेदार साहब का पारा और चढा, "तुम सब नमकहराम हो गए हो जरा-सी बात नहीं मनवा सकते और दम भरते हो पुलिस की नौकरी करने का !"

छोटेलाल बाहर जाकर बडबडाने लगा, "मक्कार कहीं का, बेगुनाहो का जीना मुश्किल कर रखा है और असली अपराधियो को सलाम करता है। करे भी क्यों न, वे तु दियल सेठ हर वक्त इसकी जेब जो गरम रखते है ! अरे, अभी कल की तो बात है। हरामी को पता था कि सेठ किरोडीमल सरेआम शराब पी रहा है, पर उसे तो शराबबन्दी होने पर भी नही पकडा और गरीबो को कैसी लाल-लाल आँखें दिखाता है, जैसे शराफ़त का पुतला यही तो है।"

सहसा हड़बड़ाए हुए श्यामलाल सिपाही ने आकर कहा, "हुज़ूर, चौक मे बहुत दगा फसाद हो रहा है।"

थानेदार साहब ने चीखकर कहा, "तुम लोग कभी चैन भी लेने दोगे या ?"

"हुज़ूर, मामला सगीन हो गया है। आप वहाँ चले जायें तो ।"

"बकवास बन्द करो तुम लोग ज़रा-से हालात पर काबू नही पा सकते ? जाओ, दस-बारह सिपाही ले जाओ। सुना या नही ?"

बदहवास-सा श्यामलाल बाहर भागा तो थानेदार साहब बड़बड़ाए, "जी चाहता है एक एक को गोली मार दूँ कोई अपनी ड्यूटी तो समझता ही नही।"

जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे तो थानेदार साहब के होठों पर एक मुस्कान खेल गई। अन्दर की जेब मे हाथ डालकर उन्होने बटुए से गड्डी निकालकर नोट गिने, और फिर सन्तोष की साँस लेकर बटुए मे वापस रख दिए—हाँ, रुपये सुरक्षित थे, दो सौ रुपये ! आज ही सुबह की बात है। थानेदार साहब थाने मे आकर बैठे ही थे कि टेलीफोन की घटी बज उठी। चोगा उठाते ही सेठ लक्खामल की आवाज़ सुनाई दी, "जल्दी से आइए, थानेदार साहब, रामनाथ गाडी रोककर बैठा है, जाने नही देता।"

इस पर थानेदार साहब हँसे, "सेठजी, आपने भी तो अफीम के गुप्त व्यापार मे लाखो कमाये हैं, आखिर कभी तो यह नौबत आनी ही थी।"

लक्खामल गिड़गिड़ाये, "थानेदार साहब, आप आइए तो, आखिर हमे भी तो अपनी खिदमत का मौका दीजिए। अरे, हम आप कोई अलग अलग थोडे ही हैं, यार-दोस्त काम नही आएँगे तो क्या ग़ैर आएँगे ?" और जब थानेदार साहब पहुँचे तो लक्खामल ने खीसें निपोरकर कहा "धन्य भाग, आइए थानेदार साहब, आइए !"

रामनाथ के पास पहुँचकर थानेदार साहब ने धीरे से कहा, "शाबाश रामनाथ, आसामी मालदार है !"

सेठजी हाथ जोड़े खड़े रहे तो उनके कान मे वह बोले, "कम्बख्त यह रामनाथ पूरा घाघ है, पचास से कम मे नही मानेगा। और हाँ, मेरे दो सौ !"

सुनते ही सेठजी के चेहरे पर रौनक़ आ गई। ढाई सौ रुपये उनके हाथ मे देते हुए बोले, "अरे, आप भी क्या बात करते हैं, थानेदार साहब, कभी-

कभी तो आप सेवा का मौक़ा देते हैं।"

रामनाथ की जेब में पचास रुपये रखते हुए थानेदार साहब फुसफुसाए, "इस बार इतना ही सही, रामनाथ! अगली बार साले का घर खाली कर देंगे।"

रामनाथ से थानेदार साहब विशेष रूप से प्रसन्न थे। उसकी पीठ ठोंकते हुए बोले, "इसी तरह मुस्तैदी से काम करते रहोगे तो बहुत जल्दी तरक्की दिलवा दूँगा।"

रामनाथ ने मन में उन्हें एक मोटी-सी गाली दी—कम्बख्त मुफ्त में इतने रुपये ले गया। पर इसके बिना कोई चारा भी तो नहीं है—थानेदार साहब को वह इस तरह की साज़िशों में शामिल न करे तो भला कितने दिनों वह बाहर रह सकता है?

मेज़ पर पाँव फैलाए थानेदार साहब की जाने कब आँख लग गई। झटके से उनकी आँख खुली तो सुना, श्यामलाल कह रहा था, "गज़ब हो गया, हुज़ूर, एक आदमी का ख़ून हो गया।"

एक झटका-सा खाकर थानेदार साहब ने टाँगें नीचे कर लीं, "क्या कहा?"

"हुज़ूर, लोग कहते हैं, वह बेचारा दंगाइयों में सुलह कराने गया था कि किसी ने उसके पेट में चाकू भोंक दिया।"

थानेदार साहब ने मुँह बिचकाया, "हूँ, सुलह कराने गया था, जैसे गांधीजी का असली चेला वही तो हो। हर आदमी लीडर बनना चाहता है। अच्छा इनाम मिला साले को।" फिर जैसे कुछ याद आने पर वह बोले, "लाश कहाँ है?"

"आ रही है।"

कुछ देर बाद श्यामलाल ने आकर कहा, "लाश आ गई है, हुज़ूर!"

वह झुँझलाए, "तो मैं क्या करूँ, रखो अन्दर वाले कमरे में। और कुछ नहीं तो शहीदों की लिस्ट में तो नाम आ गया साले का।"

सब लोगों ने आश्चर्य से थानेदार साहब की ओर देखा—कैसा दिल है कम्बख्त का, कितनी बेफ़िक्री से बैठा है!

एक क्षण बाद थानेदार साहब बोले, "अरे, सारी उमर बीत गई यह सब देखते हुए, किस्मत में लिखी मौत को कोई टाल थोड़े ही सकता है?"

वातावरण में एक अजीब-सी गम्भीरता आ गई थी। आखिर सिगरेट का अन्तिम कश खींचकर थानेदार साहब उठ खड़े हुए, "चलो लाश को देख आएँ।" मानो कोई तमाशा देखने जा रहे हों।

सब लोग उस कमरे में पहुँचे। लाश मुँह तक कपड़े से ढकी थी। सारा कपड़ा खून से लाल हो रहा था। जमीन पर जगह-जगह खून के धब्बे गिरे हुए थे।

थानेदार साहब एक क्षण खड़े रहे, मृत्यु की भयानकता ने उन्हें भी जैसे आतंकित कर दिया हो। फिर ऐसे बोले जैसे कुछ हुआ ही न हो, "मुँह से कपड़ा तो हटाना!"

रामनाथ ने कपड़ा हटाया तो थानेदार साहब ऐसे लड़खड़ाए, जैसे बिजली का तार छू गया हो। आँखें उनकी पथरा-सी गईं, पागल से दीवार का सहारा लिये वह देखते रहे—देखते रहे। सब लोग हतबुद्धि-से उनकी ओर देखने लगे। कुछ पूछने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।

आखिर भर्राए स्वर में थानेदार साहब ने कहा, "अरे, कोई भागकर डॉक्टर को बुलाओ।"

सबके होंठ जैसे किसी ने सी दिए हों। आखिर श्यामलाल ने हिम्मत करके कहा, "हुजूर, वह मर चुका है।"

थानेदार साहब के मुँह से जोर की एक चीख निकली, "मेरा बेटा!"

सुनकर जैसे सबको लकवा मार गया। थानेदार साहब का इकलौता बेटा अभी कल इंगलैंड से डॉक्टरी पास करके लौटा था।

थानेदार साहब दहाड़ें मारते हुए बोले, "हाय मेरे बेटे, किस जालिम ने तेरा खून कर दिया!"

सबकी साँस जैसे रुक-सी गई, एक अज्ञात भय से सबके चेहरे पीले पड़ गए—हे भगवान्, अब क्या होगा?

आखिर कोई कहे भी तो क्या, तसल्ली दे भी तो कैसे? सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। श्यामलाल ने ही फिर हिम्मत की। थूक निगलकर, हलक गीला करके काँपते स्वर में उसने कुछ कहना चाहा, "हुजूर", कि शब्द गले में ही अटक गए।

थानेदार साहब ने आँसुओं से भीगा चेहरा ऊपर उठाया, एक क्षण देखते रहे, फिर उठकर जोर का तमाचा श्यामलाल के मुँह पर मारा, "चुप

रइ कुत्ते !"

श्यामलाल इस अप्रत्याशित प्रहार के लिए तैयार नहीं था। औंधे मुँह धरती पर गिर पड़ा तो उसे ज़ोर की एक ठोकर लगा दाँत पीसकर वह बोले, "मुफ्त का खाते हो और खर्राटे भरते हो, शहर में चाहे कहर ढह रहा हो! पुलिस की नौकरी है या कोई मज़ाक? एक-एक को फाँसी पर न चढ़वा दिया तो मेरा नाम थानेदार हुकूमतराय नहीं! .. नमकहराम कहीं के!"

७.

ज़िन्दगी मुस्कराई

उस दिन नलिन कुछ अधिक थक गया था। निश्चेष्ट-सा होकर वह ड्राइंग-रूम में सोफे पर लेटकर सोने का प्रयत्न कर ही रहा था कि डाकिए की आवाज सुनाई दी, "चिट्ठी, साहब!"

वह उठा। लिफाफा हाथ में लेते ही उसमें से निकलती भीनी सुगन्ध ने उसमें नव-स्फूर्ति भर दी। पत्र सरिता का था, लिखा था

"नलिन डियर,

मैंने तुम्हें इतना निष्ठुर नहीं समझा था कि उस दिन की बात का इतना बुरा मानकर तुम उन नाता रिश्तों और अतीत के मादक सपनों को इतनी बेदर्दी से तोड दोगे। प्यार के साथ साथ तुमने मेरा शरीर भी चाहा था, जिसे देने से मेरे इन्कार करने पर तुम इस कदर रूठ गए कि तुमने प्यार से भी नाता तोड लिया। तुम पुरुष हो, भूल सकते हो, पर मैं तो नारी हूँ, प्यार ही जिसका जीवन है। मैं तुम्हें किसी भी मूल्य पर खो नहीं सकती, नलिन! तुम्हारे बिना मेरा जीवन रेगिस्तान-सा शुष्क पड़ा रहेगा। मैं पूर्णतया तुम्हारी हूँ। कल तीन बजे रीगल में मिलना—'देवदास' फिल्म देखेंगे।

तुम्हारी अपनी,
सरिता।"

पत्र पढ़कर नलिन मुस्कराया, वासना की एक रंगीन लहर ने उसके नेत्रों में गुलाबी डोरे डाल दिए—आखिर अभिमानिनी को झुकना पड़ा ही! हुँह, कितनी आदर्शवादिनी बनती थी!

पत्र को मुट्ठी में भींचते हुए उसने मुँह बिचकाया। इस प्रकार के बीसियों पत्र—करुणा सिक्त, व्यंग्यपूर्ण, शिकायत भरे—उसकी मेज के ड्राअर में पड़े थे। वह आदी हो गया था ऐसी बातें सुनने और पढ़ने का।

कल की रंगीन शाम की मादक कल्पना में नलिन की आँखें बन्द हो गईं। और तभी याद आई उसे अखिल की। याद आते ही वह मुस्करा उठा। कल की ही तो बात है—शाम वह कुछ ज्यादा पी गया था, इस कारण झूमता

लड़खड़ाता, गिरता वह घर आ रहा था कि उसके कन्धे पर हाथ रखकर किसी ने प्यार से कहा, "हैलो नलिन।"

सुनकर नलिन चौंका। इतने प्यार से तो उसे आज तक किसी ने नहीं बुलाया था। उसने मुड़कर देखा तो अखिल खड़ा था—उसके बचपन का परम मित्र! उसने बाँह फैला दी, "अरे, अखिल, तू ?"

लेकिन अखिल चौंककर पीछे हट गया, "तू . तू पीने लगा है, नलिन !"

नलिन फिर आगे बढ़ा, "नहीं यार थोड़ी-सी तो पी है।"

अखिल दो कदम और पीछे हटा, "तू तू पीने लगा है नलिन ! तू, जो आदर्शवाद की इतनी बड़ी-बड़ी बातें किया करता था ! तो मैंने जो सुना है वह सच है क्या कि तू वेश्याओं तक के घर जाता है !"

नलिन हँस पड़ा। नशे में झूमकर बोला, "जिन्दगी का मजा लूटता हूँ, यार ! तू भी चलेगा ? एक बार चलकर देख तो सही !"

अखिल की आँखें विस्फारित हो गईं, जोर से नलिन का हाथ झटककर वह तिरस्कारपूर्वक बोला, "छि नलिन, तुम इतना गिर सकते हो, यह मैं सोच तक नहीं सकता था।"

अखिल के स्वर में जो अवहेलना थी, अपमान था, उससे नलिन सहसा जल उठा, नेत्रों में ज्वाला लिये वह गरजकर बोला, "अच्छा-अच्छा, अपने उपदेश अपने पास ही रहने दो।"

अखिल डरकर दो कदम और पीछे हटा। शराबी से किसे डर नहीं लगता, खासकर जब वह क्रोध की चरम सीमा पर हो !

लेकिन नलिन सहसा शांत होकर बोला, "देख, अगर जिन्दगी की रंगीनी देखना चाहता है तो मेरे साथ चल, वरना अपनी राह ले, तेरे उपदेश सुनने के मूड में नहीं हूँ। उपदेश बहुत सुन चुका हूँ मैं।"

अखिल डरकर जल्दी से अस्फुट स्वर में बोला, "अच्छा, तो नलिन।" और जब यह कहकर अखिल चलता बना तब नलिन मुस्कराया—कमबख्त बुज़दिल ही नहीं, मूर्ख भी है !

कल शाम अखिल से हुई इस मुलाकात के बारे में सोचकर नलिन के दिल में एक हूक-सी उठी। वह सोचने लगा—सारी दुनियाँ मुझसे डरती है। डरे भी क्यों नहीं ? एक शराबी, आवारा, चरित्रहीन, वेश्यागामी को क्या दुनियाँ पलकों पर बिठाएगा ? सारी दुनिया में मेरा कोई मित्र नहीं है, मैं

जानता हूँ कि मेरे मरने पर मेरे लिए किसी की आँखो मे दो आँसू भी नही आयेंगे। कोई मुझसे मित्रता करे भी तो क्यो, किसी को अपनी माँ-बहन की इज़्ज़त प्यारी नही है क्या ?

आज इतने दिनो बाद नलिन की आँखें भर आईं। उसके लड़खड़ाते कदमों को सहारा देने को कोई भी न था, कोई भी ऐसा न था जिसे वह अपना कह सके।

कल शाम अखिल के सम्बोधन मे इतना प्यार, इतना स्नेह पाकर वह रोमांचित हो गया था। बहुत दिन बाद उसके होठो पर मुस्कान आई थी। उसे लगा था कि वह दुनियाँ मे अकेला नही है, अभी उसका अखिल जो ज़िन्दा है। लेकिन अखिल भी घबराकर उसके पास से हट गया था। नलिन का अन्त करण जैसे चीत्कार कर उठा। उसे लगा, जैसे उसके अन्दर कुछ टूट-सा गया है, मर सा गया है, जैसे अन्दर-ही-अन्दर खत्म होता जा रहा है वह, उसका जीवन जैसे शून्यता का पर्यायवाची बन गया है।

अतीत के और भी चित्र नलिन की आँखो के सामने आने लगे। अखिल ने सच कहा था, कभी वह बड़ा आदर्शवादी था। कल्पना-लोक मे विचरण करते समय, इस धरती के कटु-यथार्थ को भूलकर आदर्शवाद के सहारे सपनो का महल बनाते समय वह स्वय को भूल जाता था। न जाने कौन-सा आकर्षण था उसमे कि वह लड़कियो मे जल्दी ही लोकप्रिय हो जाता था। मुहल्ले की हर लड़की—सब ऐसा ही कहते थे—उसे प्यार करती थी। कारण—शायद जैसा कि हर किसी ने उससे कहा था—यह था कि उस-जैसी लड़कियो को मोहने वाली बातें बहुत कम युवक कर सकते थे। और फिर देखने मे भी वह कुछ बुरा नही था।

बातें वह लड़कियो से कर लेता था, किन्तु प्रोत्साहन उसने कभी किसी को नहीं दिया था। एक तो अपनी विधवा माँ की इकलौती सतान होने के कारण वह माँ को उसके बुढ़ापे मे कोई ठेस पहुँचाना नही चाहता था। दूसरे मुहल्ले की एक लड़की मनीता से वह इतना प्यार करता था कि किसी दूसरी लड़की के साथ रोमास की कल्पना तक नही कर सकता था। आदर्शवाद का एक घेरा उसने अपने आस पास बना रखा था और जहाँ तक भी हो वह उसे तोड़ना नहीं चाहता था।

वह शाम उसे कभी नहीं भूलती जब वह नीला से बातें कर रहा था,

सहसा नीना अनुरोध कर बैठी, "कभी मेरे कॉलिज आओ न ।"

वह चौंका, लेकिन दूसरे ही क्षण मुस्कराकर उसने पूछा, "क्यों, अपनी सहेलियों से परिचय कराओगी क्या ?"

"ज़रूर !" तत्परता के साथ उत्तर मिला।

वह रुका, सोचकर बोला, "नहीं, कॉलेज नहीं, तुम्हारे घर आऊँगा।"

इस पर जब नीला ने उत्तर दिया, "नहीं, घर पर ममी नाराज़ होंगी," तब नलिन स्तम्भित रह गया। तो तो नीला मुझे एकांत-मिलन का निमन्त्रण दे रही है ? उसने सोचा और तत्काल उत्तर दिया, "नहीं, मुझे खेद है, नीला, मैं नहीं आ सकूँगा।" और उत्तर की प्रतीक्षा के बिना ही वह तेज़ी से वहाँ से चल दिया। नीला उसे पुकारती ही रह गई।

लेकिन आज जब उसे अपनी उस दिन की भावुकता की याद आई, तो वह अपने ही ऊपर अट्टहास कर उठा।

माना कि कभी वह भावुक रहा होगा, पर पागलपन की उस स्थिति को वह अब कब का लाँघ चुका है। दुनियाँ उसके बारे में क्या सोचती है, इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं। कोरी भावुकता में पड़कर वह ज़िन्दगी की रंगीनी को फीका करने को तैयार नहीं।

और नलिन को एक और घटना याद आई। बात नीला के उस निमन्त्रण को ठुकराने के दूसरे दिन शाम की है। वह बाहर घूमने निकला ही था कि रवि मिल गया, बोला, "शाबाश दोस्त, बड़ा गहरा हाथ मारा है तुमने ! पर, भई, यार-दोस्तों का भी ख़याल रखना !"

बात समझ न सकने के कारण नलिन ने पूछा, 'क्या ?"

"अब बनो मत, यार," रवि ने व्यंग्य से कहा, "हम तो तुम्हें बधाई देने आये हैं कि नीला जैसी मानिनी का भी मान तोड़ दिया तुमने !"

वह क्रोध से पागल हो गया, "क्या बकते हो ?"

"अच्छा, भई, हम शेयर नहीं माँगेंगे, नाराज़ क्यों होते हो ? पर, भई, हो क़िस्मत के धनी !"

और नलिन परेशान हो गया। यह नहीं कि इस प्रकार के व्यंग्य सुनने का उसका पहला अवसर था, किन्तु दुनियाँ आख़िर इतना पीछे क्यों पड़ी रहती है उसके ? लड़कियों में वह लोकप्रिय हो जाता है तो इसमें उसका क्या अपराध ?

इसके दो रोज़ बाद की बात है, वह किसी मित्र की शादी में जा रहा था कि किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा, "यार, ज़िन्दगी की रंगीनी को लूटने का ठेका तुम्हीं ने ले रखा है क्या ? कभी यार-दोस्तों को भी याद कर लिया करो !"

वह मुड़ा तो सूद ! सुनील भी सूद के साथ ही था, बोला, "लड़कियों की तुम्हें कमी थोड़े ही है, एकाध हमें भी ।"

"ज़बान सम्हालकर बोलो,' नलिन आपे से बाहर हो गया।

"अरे यार, हमसे उड़ते हो," सूद हँसा, "सारे दिन क्या-क्या करते हो तुम, हम जानते नहीं क्या ?"

"क्या जानते हो तुम ?" क्रोध से नलिन उबल पड़ा।

सुनील मुस्कराया, "दुनिया को इतना मूर्ख मत समझो नलिन, बहुत देखे हैं तुम्हारे जैसे आदर्शवाद की दुहाई देने वाले ।"

"बको मत !" वह चीखा, तो सूद ने पूछा, "अच्छा बता, उस दिन तेरे साथ ओडियन सिनेमा में कौन थी ?"

नलिन स्तम्भित रह गया, "क्या बकता है तू ? वह तो मेरी कज़िन थी, मेरी मौसेरी बहन। उस दिन कनॉट प्लेस में मिल गई, तो हम पिक्चर देखने चले गए !"

सूद ने एक ठहाका लगाया, "भई, मान गए, हो तुम भी गुरु ! पर इतना हमसे भी सीख लो, कि इस उम्र में हर नवयुवती हर युवक की कज़िन ही कहलाती है, समझे ?"

इसके कुछ रोज़ बाद की बात है, अनीता दीखी तो उसने मुस्कराकर कहा, "हैलो, अनीता !"

लेकिन अनीता ने मानो सुना ही न हो।

"अनीता !" उसने फिर पुकारा, तो अनीता ने रूखे स्वर में कहा, "जी, फ़रमाइए !"

वह सकपका गया, "कैसे बोल रही हो, अनीता ?"

अत्यन्त निर्मम हो अनीता बोली, "क्यों, बाकी लड़कियों से मन भर गया, जो आज मुझ पर कृपा दृष्टि कर रहे हो ?"

सुनकर नलिन को लगा, जैसे उसे अनीता ने शूल भोंक दिया हो। अवाक्, वेदनासिक्त वह देखता रह गया। तो क्या बात इतनी दूर पहुँच चुकी है ? कहीं

कोशिश करके वह बोला, "तुम भी मेरे बारे मे ऐसा ही सोचती हो ?"

उसी बेदर्दी से उत्तर मिला, "अभिनय तुम शानदार कर लेते हो नलिन, इसकी दाद दिये बिना नहीं रह सकती मैं !"

"मनीता !"

जाते जाते वह बोली, "मुझे कुछ नहीं कहना-सुनना ! मैं तुम्हारी शक्ल तक नहीं देखना चाहती !"

गिरता-लडखडाता वह किसी तरह घर वापस आया, लेकिन जैसे उसके शरीर मे से किसी ने सारा खून निचोड लिया हो। सारी दुनियाँ चाहे कुछ भी कहती उसके बारे मे, पर यह सब मनीता ने कहा—मनीता ने, जिसे उसने इतना अपना समझा था, सोचा था कि दुनियाँ चाहे कुछ भी सोचे उसके बारे मे, किन्तु मनीता उसे गलत नही समझेगी। पर आज उसके सपनों का वह महल जैसे ढह गया हो, धूल मे मिल गया हो। वह सिसकने लगा, उसकी हिचकियाँ बँध गई—ईश्वर, तू किन गुनाह की सजा दे रहा है ? हर गुजरते दिन और ढलती रात के साथ उसे लगता कि जैसे वह स्वयं खत्म होता जा रहा हो। उसे लगता कि जैसे सारी दुनियाँ उसकी ओर अँगुली उठाकर व्यंग कर रही हो।

किसी तरह जिंदगी का बोझा वह ढो रहा था कि एक दिन माँ बोली, 'तू मुझे चैन से नहीं मरने देगा, नीलू !"

वह भचकचा गया, "क्यों, क्या हुआ, माँ ?"

माँ बोली, "तू जो आजकल कुल का नाम इतना रोशन कर रहा है, उससे तेरे पुरखों की आत्मा को बडी शांति मिल रही होगी !"

"माँ, तुम भी ऐसा ही समझती हो मुझे ?"

पर माँ तो रोने लगी, 'सारी दुनियाँ जिस बात को जानती है नीलू !"

इतने दिन से जिस तूफान को अन्दर-ही-अन्दर छिपाने की चेष्टा कर रहा था नलिन, वह आज सहसा प्रचंड वेग से फूट पडा। क्रोध से वह पागल होकर चीखा, "तो सुन लो, माँ, अब तक कुछ नहीं किया था, पर अब सब-कुछ करूँगा। इतनी शोहरत पा ली है तो उसका फायदा क्यों न उठाऊँ ?"

और पागलों की तरह वह उठा और नोटों का बंडल जेब मे डालकर बाहर चल दिया। रात के बारह बजे वह लौटा तो दरवाजा बंद देख बडी बेदर्दी

से उसे पीटने लगा। माँ ने दरवाजा खोला तो उसके मुँह से निकलती शराब की बदबू से उसकी नाक भन्ना उठी, चीखकर बोली, 'तूने शराब पी है, रे ?"

जिंदगी मे पहली बार माँ से निलज्जता से वह बोला, "हाँ माँ ! पर आज कम पी है, कल और भी पीऊँगा। आज पैसे कम पड गए, और, माँ, वह इतनी खूबसूरत थी कि ।"

और माँ ने अपना सिर पीट लिया, "ईश्वर, इस बुढापे मे यह सब देखना भी किस्मत मे बदा था क्या ?"

नलिन अब वह पुराना नलिन नहीं रह गया था। व्यग्य कर-करके दुनियाँ ने उसे जो रास्ता दिखा दिया था, उसके लिए अब वह सचमुच उसका कृतज्ञ था। जिंदगी मे इतनी रगीनी, इतनी मादकता भी होती है, नलिन ने कभी सोचा तक न था। और आज अपनी उस भावुकता की याद करके नलिन स्वय का मजाक उडाने लगा। धरती के ठोस धरातल पर उतरकर उसने कितना सौन्दर्य देखा है, जी-भर उसका उपभोग भी किया है। खिलती हुई न जाने कितनी कलियाँ उसके जीवन मे आईं और उसने भँवरे की तरह उनका सारा रस चूमकर छोड दिया। यह सोचकर एक विजयी मुस्कान नलिन के होठो पर खेल गई।

इस बीच माँ इस दुनियाँ से नाता तोड गई थी, इस कारण रहा-सहा प्रतिबध भी खत्म हो गया था।

उसने सविता के पत्र को फिर से खोला—भीनी-भीनी सुगध अब तक आ रही थी। प्यार से उसने उस पत्र को सहलाया—यही तो आने वाली कल शाम की रगीनी का सदेश लेकर आया है। मादक सपनो की कल्पना करते-करते न जाने वह कब सो गया। अगले दिन ठीक तीन बजे वह रीगल पहुँचा तो सविता न जाने कब से उसका इन्तजार कर रही थी। उसे देखकर खुशी से वह जैसे पागल हो गई, "तो तो तुम आ गए, मेरे अच्छे नलिन !"

उत्तर मे वह केवल मुस्कराया। सविता इतनी सुदर उसे कभी नही लगी थी। वासना का उद्दाम वेग जैसे उसके हृदय मे हिलोरें लेने लगा।

"चलो, टिकट मैं खरीद चुकी हूँ," सविता बोली।

"नही, पिक्चर नही देखेंगे, सवि," नलिन ने कहा, 'चलो, मेरे घर चलो। आज इतने दिन बाद मिली हो तो प्यार की दो बातें भी नही करने दोगी ?"

सुनकर सविता लजा गई, अपनी इन्ही बातो से तो नलिन उसे इतना अच्छा लगता है।

घर पहुँचे तो नलिन ने दरवाजा अन्दर से बन्द कर लिया। सविता ने विरोध किया, "चिटकनी क्यो लगा ली ?"

वह मुस्कराया, "क्यो, प्यार भी नही करने दोगी क्या ?"

उसकी घेरती बाहो के पाश से छूटने का प्रयत्न करती हुई वह बोली, 'प्यार जितना जी चाहे करना—इसीलिए तो आई हूँ, पर नलिन, अपनी शारीरिक भूख पर विजय पाने की कोशिश नही करोगे क्या, जो अन्दर-ही-अन्दर तुम्हें खाए जा रही है।"

वासना की रंगीन लहर के वेग मे वह आदोलित हो उठा, "तुम्हारी इन बातो मे आकर मैं मादक ससार से वापस नही आने का, सवि।"

"बनो मत, नलिन।" सविता बोली, "मैं जानती हूँ तुम अपनी जिंदगी से खुश नही हो। एक शून्यता तुम्हें खाए जा रही है, उदासी का कुहरा तुम्हें घेरता जा रहा है और इसको भुलाने के लिए तुम।"

वह सकपका गया, "क्या कह रही हो तुम, मैं अपनी जिन्दगी से खुश नहीं हूँ ?" और उसने एक ठहाका लगाया, "वाह, तो मेरे दिल की बात मुझसे ज्यादा तुम जानती हो।"

लेकिन सविता ने मीठी झिडकी दी, "चुप रहो, नलिन। मैं खूब जानती हूँ कि यह मद करने के पश्चात् तुम्हें अपने से कितनी ग्लानि होती है। जिन्दगी की मजबूरियो के सामने इस तरह एक बुज़दिल की तरह घुटने टेककर अपनी इस पैशाचिकता, अपने इस पतन को अपनी विजय समझते हो।"

सुनकर वह चीखा, "क्या कहा, मैं पिशाच हूँ, पतित हूँ—और तुम देवी हो ?"

लेकिन सविता मुस्कराई, "अब भी बनते हो, नलिन। मेरे पतित कहने से तुम्हें जो क्रोध आया, तुम्हारे दिल मे जो दर्द हुआ, वह इसी कारण न कि तुम्हारी भावना अभी मरी नहीं ! इस प्रकार का दर्द तो उसे होता है जो अपराध करने को मजबूर हुआ हो।"

सुनकर नलिन अवाक् रह गया। सविता उसके दिल की गहराइयों तक कैसे उतर गई ? उसे लगा कि जैसे सविता ने उसकी दुखती रग पर हाथ रख दिया हो। दिल मे कुछ दर्द-सा होने लगा। पर एक क़हक़हा उसने फिर

लगाया, "भाषण तुम शानदार दे लेती हो, सवि ! पर सुनो, न भावुकता में परिपूर्ण प्रलाप को और न ही आदर्शवाद के इन खोखले तर्कों को सुनने के मूड में हूँ।" और उसने आगे बढ़कर सविता को अपनी बाँहों में भर लिया।

सविता ने इस बार उसके बन्धन से छूटने की कोशिश नहीं की, "जानते हो, नलिन, तुम्हें याद करके कितना रोई हूँ मैं, लेकिन तुम मुझे इतना पराया समझते हो कि अपना दुःख-दर्द भी नहीं कह सकते ? सुख को न सही, पर दुःख को तो बाँटने से ही जिंदगी का बोझ हलका होता है।"

नलिन की आँखें गीली हो गईं। सहसा वह कुछ कह नहीं सका, एकटक उसकी ओर देखता रह गया। आत्मीयता के इस स्वर को सुनने के लिए ही तो उसके कान कब से बेकरार थे। उसके भीतर आँसुओं का एक वेग-सा उमड़ने लगा, पर दूसरे ही क्षण वह सम्हल गया, व्यंग्य से बोला, "ओह, मेरा सौभाग्य कि आप जैसे शुभचिंतकों के दर्शन हो गए, जो मेरे सुख के नहीं, दुःख के भागीदार बनने को बेकरार हैं।"

पर सविता ने डाँटकर कहा, "चुप रहो, नलिन ! तुम अपने को धोखा दे सकते हो, मुझे नहीं। मैं तुम्हें पतन के इस गड्ढे में गिरने नहीं दूँगी।"

सुनकर नलिन रोमांचित हो गया। आज तक सारी दुनियाँ ने उसका तिरस्कार और अपमान किया था, उसे धिक्कारा था, पर इस प्रकार प्यार के इतने अधिकार से उसे डाँटा किसी ने नहीं था। सविता के रूप में उसे जैसे आशा की नई किरण दीखी हो, मानो उसकी टूटती रगों में कोई नव-प्राण फूँक रहा हो। पर दूसरे ही क्षण अपने अतीत के बारे में सोचकर उसका दिल जैसे बैठ गया। उमड़ते आँसुओं को किसी प्रकार पीकर वह बोला, "पतन की बात करती हो, सवि, तो तुम्हें धोखे में नहीं रखना चाहता। मैं पतन की उस सीमा तक पहुँच चुका हूँ ।"

बीच ही में उसे रोककर वह बोली, "तो तुम अपनी इस जिन्दगी से खुश नहीं हो न ?"

नलिन पर सविता ने जैसे जादू कर दिया हो, वह सहसा सविता के कंधे पर सिर रखकर फूट-फूटकर रो पड़ा, "अपने इस नारकीय जीवन से मैं तंग आ गया हूँ, सविता ! आत्महत्या करने की मुझमें हिम्मत नहीं है, पर जिन्दगी में इतनी वीरानी आ गई है

कि !" और उसकी रुलाई ने शेष शब्द उससे छीन लिए।

प्यार से उसके गालों पर चपत मारकर सविता बोली, "क्यों, प्यार नहीं करोगे, नलिन ?"

असीम वेदना से उसका चेहरा पीडित हो उठा, "व्यंग्य करती हो, सवि ?"

पर सविता ने उसके गले मे अपनी कोमल बाँहों का हार पहनाकर कहा, "ज़िंदगी के इन तूफानी दिनों मे तुम्हें मेरा सहारा चाहिए, नलिन ! और मैं मैं तुम्हारे बिना एक क्षण भी ज़िन्दा नहीं रह सकती।"

उसकी उस पतझड़-सी ज़िन्दगी मे कोई वसन्त के हर्षोल्लास का सदेश लेकर आएगा, यह नलिन ने कभी सोचा तक नहीं था।

"तुम तुम कितनी अच्छी हो, सवि !"

पर दूसरे ही क्षण उसकी बाँहें ढीली हो गईं, "नहीं, मैं अपनी खुशी के लिए तुम्हारा जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, सवि ! मेरी ज़िन्दगी तो किसी तरह कट हो जायगी, और वैसे भी अब मुझे अपनी ज़िन्दगी से प्यार नहीं रहा।"

"पर मुझे तो अपनी ज़िन्दगी से प्यार है," वह बोली। "इस लम्बी जीवन-यात्रा को तुम्हारे सहारे बिना कैसे काट सकूँगी मैं ?"

"तुम जानती नहीं, सवि, कि मैं समाज से ठुकराया हुआ एक चरित्र-हीन, शराबी, वेश्यागामी !"

"मैं बहुत सुन चुकी हूँ नलिन !" उसके होंठों पर अँगुली रखकर वह बोली, "मैं जानती हूँ, तुम मेरे साथ विश्वासघात नहीं करोगे। बोलो, मुझे जिरसंगिनी के रूप मे स्वीकार करके ?"

वह फूट-फूटकर रो पड़ा, "तुम कौन हो, सविता ?"

और सविता ने उसे अपनी बाँहों में समेट लिया।

सन्ध्या आज भी और दिनों की तरह आई, पर आज धरती से भीनी-भीनी सुगन्ध निकल रही थी, पक्षियों के कंठ से संगीत की धारा बह रही थी और पतझड़ सा शुष्क जीवन वसन्त की सरसता मे परिणत हो गया था, जैसे ज़िन्दगी फिर से मुस्कराई हो।

८

परतों के आर-पार

उस दिन सुनन्दा मिली, तो एक अजीब लहजे में बोली, "कुछ सुना, भाभी, रेखा भाग गई।"

मैं सकते में आ गई, "क्या कह रही हो तुम, अभी कल ही तो उसकी माँ ने अगले महीने की तीन तारीख को उसकी सगाई पर आने का निमंत्रण दिया है मुझे।"

"अरे, भाभी, यह सगाई ही तो इस सबकी जड़ है," सुनन्दा रहस्यमय स्वर में बोली, "दरअसल रेखा का किसी लड़के से रोमांस चल रहा था, माँ-बाप वहाँ शादी करने को सहमत नहीं हुए तो उसने कल, दूसरी जगह सगाई होने से पहले ही, उस लड़के के साथ सिविल मैरिज कर ली। हाय राम, कितनी हिम्मत हो गई है आजकल की लड़कियों में, न माँ-बाप की इज्जत का ध्यान, न मर्यादा की चिंता, सब घोलकर पी गई हैं जैसे।"

मेरी आँखों के सामने रेखा का चेहरा घूम गया—भोला, मासूम, निश्छल। सुनकर सहसा विश्वास नहीं हुआ—अरे, वह इतनी-सी लड़की इतना बड़ा कदम उठाने का दम भर सकती है? आखिर दो पल चुप रहकर पूछा, "लड़का क्या करता है?"

मुँह बिचकाकर सुनन्दा बोली, "झाड़ झोंकता है। अरे, इस तरह के गैर-जिम्मेदार, उच्छृंखल लोगों के लिए कोई काम हो सकता है? दिन-भर मजनूँ बने सड़कें नापते हैं, काम क्या करेंगे, खाक।"

किसी तरह साहस बटोरकर मैंने पूछा, "अच्छा यो एक बात बता, सुनन्दा, रेखा क्या उस लड़के से बहुत प्यार करती थी, कब से?" प्रश्न अपने में अत्यंत बेतुका था, क्योंकि प्यार न होता तो वह लजीली लड़की सारे समाज को चुनौती देने का बल कहाँ से पैदा करती? पर बचपन की रेखाएँ जिसके चेहरे पर आज भी विद्यमान हैं वह रेखा भी किसी के प्यार में इस कदर लुट सकती है, मेरे लिए यह कल्पनातीत था।

वही हुआ जिसकी आशंका थी। सुनन्दा भड़क उठी। प्यार शब्द से उसे

बेहद चिढ है। महज भावुकता के अतिरिक्त कुछ नहीं मानती वह इसे। बोली, "भाभी, तुममे यही तो दोष है। जहाँ जरा प्यार का नाम भी सुना, बस तुम्हारी सहानुभूति उमड पडी। अरे, रेपा जैसी लडकियाँ किसी के प्यार मे बावली हो जायें तो वह प्यार न हुआ, खिलवाड हो गया। जरा किसी से आँख मिली नहीं कि लगे आहें भरने! मुझे तो इधर एक अरसे से उसके लक्षण ठीक नहीं लग रहे थे।"

एक अच्छा श्रोता मिल जाय तो सुनदा का भाषण घटो खत्म नही होता, इसलिए घबराकर उसे बीच ही मे टोककर मैंने कहा, "अच्छा चलती हूँ, सुनदा, 'ये' अब तक ऑफिस से आ गए होगे।"

पडोसिन होने के नाते सुनदा को प्यार से मैं ननद कहती हूँ। प्यार भी बहुत करती है मुझे, पर इतने वर्षों के निकट सम्पर्क के बावजूद वह मेरे लिए एक पहेली-सी रही है। उम्र उसकी २७-२८ से कम क्या होगी अब, पर अभी शादी कराने की उसकी कोई योजना दिखाई नही देती। उच्चवर्ग की उन लडकियो की हवा भी उसे नहीं लगी कि सारी उम्र क्वारी रहने पर भी जो पुरुष और नारी के हर अतरग सम्बन्ध से खूब परिचित होती हैं। अब तक शादी न करवाने के पीछे किसी असफल प्रेम का इतिहास छिपा हो, ऐसा भी नही है। बहुत सोचने पर आखिर एक दिन हिम्मत करके मैंने पूछ ही तो लिया, "एक बात पूछूँ, सुनदा ?"

हँसकर वह बोली, "तुम तो, भाभी, ऐसे पूछ रही हो जैसे कोई बहुत रहस्य की बात हो।"

मैंने उसका हाथ जोर से दबाकर कहा, "नाराज़ तो नहीं होगी न ?"

प्यार से वह बोली, "पूछो, भाभी, भला तुमसे रूठ सकती हूँ मैं ?"

सारी शक्ति सचित करके मैंने कहा, "तुम शादी क्यो नहीं करवाती हो?"

लज्जा से सुनदा का चेहरा आरक्त हो गया, तो उसकी ओर देखने का मुझे साहस नहीं हुआ। दो क्षण कोई नही बोला, फिर मेरी अँगुलियों मे अँगुलियाँ डालकर वह बोली, "ढग का लडका भी तो मिले, भाभी।"

मैं चकित रह गई, पूछा, "अरे! पर मैंने तो सुना था कि तुम खुद ही ब्याह को तैयार नहीं होतीं, कई जगह बात चली, पर तुमने ही ना कर दी।

लगा कि जैसे उसके गले मे कुछ अटक-सा गया हो, "भाभी, सारी ज़िन्दगी का सवाल होता है, आँख मूँदकर कोई कुएँ मे कैसे कूदे ?

तीन-चार सौ महीना वेतन से आज की दुनियाँ मे निर्वाह कहाँ होता है ! लड़का कम से-कम आठ-नौ सौ तो लेता हो।"

"पर सुनदा !"

"वरना शादी नही करूँगी आखिर खानदान की इज्जत भी तो कोई चीज होती है। मुझे तो ऐसा साथी चाहिए जिसके साथ जीवन के शेष वर्ष सुख से बीत जायें। वैसे भी, तुम तो जानती ही हो, संयम शब्द से मुझे बेहद चिढ़ है। प्यार व्यार मे मेरा कोई विश्वास नही, एक ढकोसला लगता है मुझे यह सब।"

और कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नही हुई। जाने इस सुनदा को पुरुष और नारी को पारस्परिक बंधन मे बाँधने वाले प्यार के पवित्र सूत्र से इतनी चिढ़ क्यो है। पुरुष और नारी के एक-दूसरे के प्रति अदम्य आकर्षण की भावना ने सुनदा के हृदय मे कभी हिलोरें पैदा नहीं की क्या ? ब्याह को जीवन-नौका खेने का एक साधन मात्र मानती है क्या वह ? पर कारण कुछ भी हो, सुनदा के लिए मेरे मन मे प्यार के साथ श्रद्धा भी रही है। संयम का पूर्ण बहिष्कार इंसान की सबसे बडी विजय, साक्षात् प्रकृति पर विजय नहीं है क्या ? इसीलिए प्यार के प्रति सुनदा के आक्रोश को भी मैं सह लेती हूँ।

इससे दो दिन बाद की बात है। मुहल्ले की एक लड़की कला की शादी थी। बारात आई तो दूल्हे को देखकर सुनदा ने नाक सिकोड़कर कहा, "दूल्हा है कि अफ्रीका के जंगलो से पकड़कर लाया गया हब्शी !"

मैंने देखा, लड़का साँवला जरूर था, पर नयन-नक्श तीखे थे, क़द भी अच्छा-खासा था। खीझकर बोली, "ठीक तो है, और लड़का मे कोई सुर्खाब के पर लगे होते हैं क्या ?"

"बाप रे, हाथी-सा लगता है," मेरी बात पर तनिक भी ध्यान न देते हुए सुनदा बोली, "बस एक लड़का चाहिए, हो चाहे जैसा भी ! और कला को देखो, खुशी छिपाए नहीं छिप रही, जैसे क़िला ही तो फ़तह किया हो। एक अनजाने व्यक्ति के साथ सारी उमर का बंधन और वह भी ऐसा जैसे साक्षात् खैर छोडो, मुझे क्या। पर सच, भाभी, मुझे तो कला पर तरस आ रहा है !"

मैं चुप रही। सहसा मेरा ध्यान एक ओर आकृष्ट करते हुए वह बोली, "कुछ देखा तुमने ?"

मैंने देखा, सध्या और राजीव जाने एक-दूसरे की ओर कैसी निगाहों से देख रहे थे—पागल-से, खोये-से, दुनियाँ की पैनी दृष्टि से अनजान, एक-दूसरे की आँखों की गहराई में डूबे हुए।

सुनदा बोली, "तुम देखती रहो, मुहल्ले में एक नया गुल नहीं खिलाया इन लोगों ने अगर। सैक्स को बहुत अच्छा नाम दे रखा है दुनियाँ ने—प्यार। हुँह।"

मैं हँसी, "अरी, तू भी जब किसी की राह में पलकें बिछाया करेगी, तब पूछूँगी।"

उपेक्षा से वह भी हँसी, "अब इस जन्म में तो यह सब होने से रहा, भाभी, अगले की ईश्वर जाने। दुनियाँ प्यार-मुहब्बत की इन सकीर्ण गलियों से बहुत बड़ी है।"

सुनदा के उत्तर में एक ऐसा वज़न होता है कि मुझे हमेशा चुप रह जाना पड़ता है। सच ही तो कहती है यह, यौवन एक उन्माद ही तो है किधर बहा ले जायगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। एक लहर है जो ससार रूपी विशाल समुद्र में उठती है, और स्वय ही विलीन हो जाती है। एक ऐसा भी दिन आता है जब हम प्यार के आवेश में किये वायदों का, उन चरम क्षणों में बुने गए रंगीन सपनों के ससार का स्वय ही उपहास करते हैं। आश्चर्य होता है तब सोचकर—सच, हम इतने अपरिपक्व थे क्या ? और उस प्यार पर चढ़ा सैक्स का झीना आवरण पहली बार उभरकर हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर देता है।

सुनदा बोली, "अच्छा भाभी, चलती हूँ। चारों ओर कृत्रिम साज-सिंगार के सिवाय कुछ दिखाई ही नहीं देता, जैसे सब लोग अपनी नुमायश दिखाने आए हों, छि।"

"अरी, अब सब तेरी तरह कैसे हो जायँ, सुनदा ? आखिर यही तो उमर होती है हँसने खेलने की, खाने-पहनने की। इन्सान अपने अरमानों का गला क्यों घोटे आखिर ?"

सुनदा झल्लाई, "अब तुम और कुछ कहोगी, तो मैं लड़ पड़ूँगी। साज शृगार, प्रदर्शन और उच्छृंखलता ही तो जैसे जिन्दगी का उद्देश्य है।"

इसके कुछ दिन बाद मुहल्ले में फिर एक तूफान-सा उठा। मुहल्ले की पिछली गली में रीता और किशोर प्रेम पत्रों का आदान प्रदान कर रहे थे कि रामो बुआ ने देख लिया। उसी क्षण शान्ता मौसी के घर जाकर मुँह

मटकाकर बुआ बोली, "अब तो यह मुहल्ला भले लोगों के रहने योग्य नहीं रहा, बहन ! हम तो अगले ही महीने मकान बदल लेंगे।"

मौसी ने आँखें विस्फारित करके कहा, "क्यों, क्या हो गया, बहन ?"

बुआ ने आँख मटकाकर और हाथ नचाकर बताना शुरू किया, तो मौसी की साँस रुक सी गई, "हाय राम, घोर कलजुग आ गया है, जो हो जाय सो कम!"

यह शुभ-समाचार मुझे सबसे पहले सुनदा ने ही दिया। मैं चुप सुनती रही तो वह बोली, "हर रोज तितलियों की तरह सज-धजकर नये प्रेमियों के साथ मटक मटककर बात करने में खूब पारंगत हो गई है आज की लड़की ! जाने यह लहर कहाँ ले जायगी इसे ? प्यार के नाम पर वहशीपन का ताडव-सा हो रहा है।"

मैंने भी कहा, "अब किया भी तो क्या जाय, सुनदा ? पश्चिम के सम्पर्क मे आने के बाद दुनियाँ इतनी प्रगतिशील हो गई है कि ।"

सुनदा सहसा खिलखिलाई, "सोचकर हँसी के मारे मेरा तो बुरा हाल हो जाता है—अभी कपड़े पहनने का तो शऊर नहीं और मुहब्बत की दुनियाँ आबाद करने के ख्वाब देखे जा रहे हैं ! अच्छा, भाभी, आखिर किस मर्ज का नाम है प्यार, जिसने सारी दुनियाँ को दीवाना बना दिया है ?"

मैं मुस्कराई, "एक बार इस मर्ज को पालकर देख ले न तू भी !"

सुनदा की हँसी बढ़ती गई, "हाँ सोचती हूँ, जन्म लिया है तो किसी अनुभव से वंचित क्यों रहा जाय? हर प्यार की परिणति विवाह ही में होती है, तो आखिर किसी आँख के अंध और कान के बहरे से शादी ही क्यों न कर ली जाय।"

मैंने तनिक अधिकार से कहा, "हर बात का मजाक मत उड़ाया कर, सुनदा ! जीवन के प्रति इतना नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाकर जिया नहीं जा सकता।"

वह फिर हँसी, "तो भाभी, सिखा दो न, प्यार कैसे किया जाता है आखिर ?"

मैंने झिड़ककर कहा, "बहुत हँस मत सुनदा, कभी-कभी तुम पर बहुत आश्चर्य होता है। प्यार करना पाप नहीं है। पुरुष और नारी एक दूसरे के पूरक होते हैं। उस नीड़ विहीन पक्षी को देखा है तुमने कभी, जो किसी नीड़ की खोज मे सारी रात भटकता रहता है !"

प्यार से मुझे एक घूँसा लगाकर वह बोली, "अपने अपने स्वभाव की

बात होती है, मेरी अच्छी भाभी ! अपने परों पर बन्धन के पत्थर बाँधकर नहीं उड़ना चाहती मैं। मुक्त उड़ान के लिए एक बहुत बड़ी दुनियाँ चाहिए मुझे, चहारदीवारियों में घिरी इन छोटी सी दुनियाँ में मेरा तो, सच, दम घुट जाय।"

मुझे सुनदा पर कभी कभी बहुत तरस आता है। अंधकार की गलियों में भटकने वाला रोशनी की कीमत कैसे आँक सकता है ! पुरुष और नारी का सम्बन्ध केवल सेक्स का थोड़े ही है, आखिर जिन्दगी की इस लम्बी यात्रा में किसी सहारे की, साथ की जरूरत होती है, किसी की बाँहों की जरूरत होती है जो कभी थककर गिरने लगें हम जब, तो आगे बढ़कर थाम लें, दुनियाँ के निष्ठुर प्रहारों से टूट जायें हम जब, तो किसी के कंधे पर सिर रखकर सो सकें। और सुनदा-सरीखी भारतीय नारी—आखिर जिन्दगी की इस लम्बी मंजिल को अकेले कैसे तय कर पाएगी वह ?

उसी दिन सुनदा की माँ से मिली तो उनकी आँखें डबडबा आईं, "सब कर्मों का फल है बेटी, किया भी तो क्या जाय ! सोचा था, कोई अच्छा लड़का मिल जाय तो सुनदा का विवाह करके निश्चिन्त होकर हरिद्वार चली जाऊँ। चार सौ रुपयों में आज की मँहगाई में तो रोटी भी नसीब नहीं होती, पर इसकी उमर भी बढ़ती जाती है।"

मेरा जी भर आया—बेचारी सुनदा ! आज अगर उसके पिता जीवित होते, तो क्या उसे हजार-बारह सौ का लड़का न मिल जाता ? सोलह-सत्रह बरस का तो भाई है उसका, वह किससे क्या बात करे आखिर ? रहे रिश्तेदार, सो वे कब किसके हुए हैं ?

माँ कहती गईं, "अब तू ही कोई लड़का बता, चार-पाँच सौ हो चाहे कमाता हो पर खानदानी हो। आखिर औरत को मर्द के सहारे की जरूरत होती है।"

जाने सुनदा के कानों में बात की भनक कैसे पड़ गई, आकर तमककर बोली, 'माँ, तुम मुझे जिन्दा रहने दोगी या नहीं ? मुझे नहीं करवानी शादी-वादी ! जब देखो, मर्द की कमाई, मर्द का सहारा, .सुनते-सुनते जीना हराम हो गया है।" और अंग्रेजी में मुझसे बोली, "अब तुमने भी शादी की बात की तो ठीक नहीं होगा, भाभी ! तुम सब जानती हो, मुझे पुरुष जाति से नफरत है !"

मैं अवाक्, स्तम्भित चुप रही, फिर भारी पगों से घर वापस आ गई—हे ईश्वर, इसे सद्बुद्धि दे !

दो दिन मैं सुनदा के घर नहीं गई। आखिर तीसरे दिन रहा नहीं गया। गई तो देखा, दरवाज़ा अन्दर से बंद था। आवाज़ लगाई, जवाब नहीं मिला। दरवाज़ा खटखटाने के लिए जैसे ही दबाव डाला कि वह खुल गया। शायद अन्दर से चिटकनी अच्छी तरह बंद नहीं थी। सुनदा ज्यादातर पिछले कमरे में रहती है। पहला कमरा पार करके उस कमरे में प्रवेश करने लगी तो जो देखा, देखकर मेरा सारा रक्त जम-सा गया, जैसे मुझे लकवा मार गया हो।

चौदह वर्षीय राकेश को बाँहों में भींचकर सुनदा पागलों की तरह उसे चूमे जा रही थी, दृढ़तर आलिंगन में कसे जा रही थी। कपड़े उसके अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उसकी आँखों में एक अजीब-सा वहशीपन, उन्माद हिलोरें ले रहा था और राकेश उसकी बाँहों से छूटने के लिए छटपटा रहा था, जैसे समझ नहीं पा रहा हो कि आखिर यह सब क्या हो रहा है।

मैंने दीवार का सहारा ले लिया, मानो धरती डगमगाने लगी हो। हतबुद्धि-सी मैं देखती रही, देखती रही—हे ईश्वर, व्यक्ति के बाह्य और भीतर में कितना वैषम्य है ! गड्ढा जितना ही गहरा होता है, उसे छिपाने के लिए उतनी ही मिट्टी डालनी पड़ती है।

सहसा सुनदा की निगाह मुझ पर पड़ी तो उसके मुँह से ज़ोर की एक चीख निकल पड़ी। पागलों की तरह वह उठी, अपने कपड़े ठीक किये, भयातुर आँखों से मेरी ओर क्षण-भर देखती रही। फिर ज़ोर से राकेश को धकेलकर एक चाँटा रसीद करते हुए वह बोली, "बोल, यह सब कहाँ से सीखकर आया है तू ? अभी कल तो पैदा हुआ है और दुनिया भर की बातें जानता है। मुआ, बदमाश कहीं का मैं सो रही थी कि मुए ने मुझे सोये हुए ही । मेरी नींद खुली तो यह सब देखकर मेरी तो आँखें फट गईं... । बोल, बोलता क्यों नहीं , ?"

For only serious persons

दिल डूब-सा रहा है

घर से निकला ही था कि सामने देखा सुरेश जा रहा है—सूटेड-बूटेड, हमेशा बिखरे रहने वाले बाल कढ़े हुए, चाल में एक अजीब मस्ती और हमेशा खोए-खोए दिखाई देने वाले चेहरे पर एक नई रौनक ! तेजी से कदम बढ़ाकर मैं उसके पास पहुँचा। सुना कि वह कुछ गुनगुना रहा है जैसे खुशी को वह समेट नहीं पा रहा हो। मैंने पीछे से उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "आज सूरज किधर से निकला है, मियाँ ? यह खुशी का खजाना कहाँ से लूटकर ला रहे हो ?"

वह सहसा चौंका और फिर एक लम्बी साँस भरकर मेरी ओर चुप देखता रहा। मैं सकपकाकर उसकी ओर देखता रह गया। उसकी मस्ती का स्थान एक हद दर्जे की मुर्दनी और खोएपन ने ले लिया था।

एक क्षण चुप रहकर होठों पर एक म्लान मुस्कान लाकर उसने जैसे बड़ी कोशिश करके पूछा, "क्यों, कैसे हो ?"

मैंने सहानुभूति से पूछा, "क्यों, भई, क्या हो गया [illegible] ? दिल की बीमारी की शिकायत तो नहीं है ? अभी तो इतने खुश थे तुम कि जैसे.. ।"

एक आह भरकर वह बोला, "खुशी का मेरे जीवन के साथ सम्बन्ध कब सम्भव है ! मैं तो उस दिन को कोसता हूँ जिस दिन मैं पैदा हुआ था ,"

और जैसे जी भर आने के कारण वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर सका। --

"क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

एक लम्बी साँस खींचकर वह बोला, "ऐसा लगता है जैसे सारा शरीर टूट रहा है, दिल जैसे डूब रहा है, शून्यता ने जैसे मेरी आँखों में घर बना लिया है !"

"आखिर यह सब ?"

बीच ही में मुझे रोककर वह बोला, "दिल जैसे कब्रिस्तान बन गया है, होठों में जड़ता समा गई है, और चेहरे की सारी रौनक उड़ती जा रही है !"

मैने बात को हल्का रूप देने के लिए मुस्कराकर पूछा, "कहीं दिल पर तो चोट नहीं खा गए, दोस्त, बडी खतरनाक बीमारी होती है यह !"

उसका चेहरा असह्य वेदना से पीडित हो उठा। उसके हृदय मे जैसे मैने शूल भोक दिया हो। स्वर मे असीम पीडा भरकर वह बोला, "मेरी इस दशा पर भी तुम व्यग्य कर सकते हो ?"

मैं उत्तर देने ही वाला था कि सहसा मुझे याद आया कि मैने तो बारह बजे कमलेश को लंच का टाइम दे रखा था। घडी मे देखा तो साढे ग्यारह ! मैने हडबडाकर कहा, "माफ़ करना, सुरेश ! जरा देर हो रही है, फिर मिलेंगे।"

सुनकर उसके चेहरे पर चैन की एक लहर-सी दौड गई। शायद उसने सोचा, चलो अच्छा ही हुआ, पीछा छूटा कम्बख्त से, पर प्रकट मे बोला, "इतनी जल्दी ? खैर, कभी-कभी मिलते रहा करो, तुमसे मिलकर मन को कुछ शान्ति मिलती है।"

सुनकर मेरे होठो पर एक मुस्कान फिर खेल गई, लेकिन समय की कमी के कारण मैने चलने की तैयारी की, "अच्छा, भई, फिर मिलेंगे !"

मुझे वह दिन याद आया। हाँ, तीन-चार रोज पूर्व की तो बात है। मैं जब पहुँचा तो सुना, चुनौती-सी देते हुये सुरेश किसी से कह रहा था, "तुम लोगों की भी कोई जिन्दगी है, जैसे एक बोझ-सा ढो रहे हो ! अरे, जिन्दगी को उसके आखिरी जाम तक पीकर झूमना तो हम से सीखो ! क्या रोये-रोये से रहते हो !"

मैने उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "कभी इधर भी देख लिया करो, यार !"

उसका चेहरा मुरझा-सा गया, बोला "बहुत दिन बाद दिखाई दिए तुम !"

मैने कहा, "तुम्हारी खुशी मे खलल डालने के लिये माफ़ी चाहता हूँ, दोस्त !"

वह जैसे समझा नहीं, फिर सहसा मेरा हाथ दबाते हुए बोला, "तुम्हारे आते ही जो मैं सहमा चुप-सा हो गया, उसका जिक्र कर रहे हो ?" उसने एक लम्बी साँस ली, "अरे यार, जिन्दगी से ऊब गए हम तो ! लेकिन हँसना इसलिए पडता है कि यार-दोस्त परेशान कर देते हैं पूछ-पूछकर कि भई,

भरी-जवानी में ही तुम जो बूढ़े हो गए हो, क्या बात हो गई आखिर ? अब तुम्हीं बताओ, इस परेशानी से बचने के लिए किया भी तो क्या जाए, सिवाय इसके कि आप बनावटी-कहकहे लगाते रहें।"

लंच खाते समय भी रह-रहकर मेरा ध्यान सुरेश की ओर चला जाता।

लंच खाने के बाद कमलेश बोला, "यार, 'ट्वल-इन-स्टोर' बड़ी अच्छी कॉमेडी आई है। साढ़े तीन बजे के शो के लिए एक टिकट तुम्हारे लिए भी खरीद लाया हूँ।"

हम सिनेमा-हाल में पहुँचे तो न्यूज-रील शुरू हो चुकी थी। थोड़ी देर में पिक्चर शुरू हुई तो अगली सीट पर बैठे साहब पहले ही सीन को देखकर उछल पड़े, "खूब, बहुत खूब, वन्डरफुल!" और इसके बाद तो हर सीन पर ठहाके लगाकर, तालो बजाकर, उछल-उछल कर वह दाद देते रहे, यहाँ तक कि साथ बैठे लोग चौंककर उनकी ओर देखने लगे।

कमलेश बोला, "अजीब हैं यह हजरत, ठहाके इस तरह लगा रहे हैं गोया ज़िंदगी में दर्द कभी देखा न हो।"

फिर एक ठहाका लगा तो मैंने पहचाना, अरे, यह तो सुरेश है।

शो खत्म होने पर उसके बाहर निकलने पर मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर पूछा, "क्यों, भई, पिक्चर कैसी लगी ?"

मुझे देखकर उसके चेहरे पर उदासी की घटाएँ घिर आईं, स्वर में निराशा भरकर वह बोला, "एकदम बकवास है। मैं तो गलती से चला आया। जाने इस तरह की वाहियात बातों पर लोग हँस कैसे लेते हैं। क्यों, तुमने भी देखी है क्या ?"

मैंने मुस्कराकर कहा, "मैं तो एकदम तुम्हारे पीछे ही बैठा था ?"

"क्या ?" वह सहसा घबरा गया।

कमलेश चूका नहीं, बोला, "लेकिन मास्टर साहब, हम सब लोग तो पिक्चर की बजाय आपके ठहाकों का ही अधिक आनन्द ले रहे थे।"

वह सकपका गया, "जी, मैं मैं ,नहीं तो ।"

मैंने बात बदलकर उसकी इज्ज़त बचाई, "क्यों, अब कहाँ की तैयारी है ?"

"अब सीधा घर जाऊँगा। तबीयत कुछ ठीक नहीं है," उसने अपनी

भारत से मजबूर होकर कहा।

हवा के साथ खुशबू का एक झोंका आया तो मैंने किसी सुन्दर चेहरे की आशा में नजर दौड़ाई, किन्तु व्यर्थ ! फिर एक झोंका आया तो पता लगा कि सुरेश ने बालों में खुशबूदार तेल लगा रखा है।

इतने में कमलेश बोला, "भाई साहब, आपका पाउडर का डिब्बा दस-बारह दिन तो चल ही जाता होगा !"

"जी. ?" सुरेश सकपका-सा गया। मैंने पहली बार ध्यान दिया,—उसके चेहरे पर पाउडर की तहें जम रही थीं। मैंने चुटकी ली, "दरअस्ल बात यह है कि इनके चेहरे की रौनक उड़नी जा रही है, इसलिए उसका इलाज करना ही पड़ता है ! क्यों, ठीक है न, सुरेश ?"

व्यंग्य समझ न सकने के कारण सुरेश ने मेरी ओर कृतज्ञता से देखा। मैंने कहा, "अब भई, कमी लिपस्टिक और रुज की ही रह गई है !"

हड़बड़ाकर वह बोला, "अच्छा भई, चलता हूँ, मुझे तो घर जाकर दवाई खानी है।"

इसके कुछ रोज बाद की बात है। कनॉटप्लेस में सुरेश मिल गया, तो शिकायत-भरे लहजे में बोला, "अजीब आदमी हो तुम भी, किसी की जान निकल रही हो और तुम्हें मज़ाक सूझता है। उस दिन . ।"

मैंने क्षमा-याचना-सी करते हुए कहा, "क्यों, अब तबीयत कैसी है ?"

मेरा सहारा लेकर वह बोला, "जिस्म टूट-सा रहा है, खड़ा नहीं हुआ जा रहा।"

मुस्कान छिपाकर सहानुभूति दिखाते हुए मैंने कहा, "चलो, किसी रेस्तोरां में चलकर बैठें। शायद तबीयत कुछ सम्हल जाए।"

रेस्तोरां में बैठकर बैरे को बुलाकर मैंने कहा, "क्यों, तुम्हें तो सोडा ही मुआफ़िक आएगा न ?"

"सोडा ?" उसने मुँह बनाकर कहा, "नहीं यार, आज आइसक्रीम खाने का मन है।"

मैंने कृत्रिम आश्चर्य से पूछा, "क्या, इस हालत में आइसक्रीम खाओगे ? कहीं तबीयत ज्यादा खराब हो गई तो ।"

"तबीयत तो हमेशा खराब ही रहती है। वैसे मैं आते से काफ़ी अच्छा महसूस कर रहा हूँ।"

और इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, उसने बैरे से कहा, "एक फ्रूट-आइसक्रीम और एक प्लेट वेजीटेबल-कटलेट।"

और फिर मेरी ओर मुड़कर बोला, "भई, अपना आर्डर तुम दे दो, मुझे कुछ और लेना होगा तो मैं खुद ही कह दूंगा।"

मैंने आर्डर दे दिया। बैरा आर्डर लेकर जाने लगा तो सुरेश बोला, "एक प्लेट चीज़-पकौड़ा और एक ऑरेंज जूस।"

बैरा चला गया तो मेरी ओर मुड़कर वह बोला, "क्यों, पैसे तो हैं न? यार, तुम लोगों के साथ कुछ खा-पी लेता हूँ, वरना तबीअत ही नहीं करती कुछ खाने को। जाने क्या होता जा रहा है!"

मैंने प्रोत्साहन दिया, "नहीं यार, तुम तो तकल्लुफ करते हो!"

उसने उत्तर दिया, "नहीं दोस्त, खाने को तबीअत ही नहीं करती। हर वक्त पेट भरा-भरा-सा रहता है।"

मैंने मुस्कान रोककर कहा, "रोज़ रात को सोते समय चूरन क्यों नहीं लेते? उससे तबीअत भी ठीक रहती है और भूख भी खूब लगती है।"

"अच्छा, अब ऐसा ही करूंगा!"

वह चीज़-पकौड़ा खा चुका तो मैंने बैरे को बुलाकर सुरेश से कहा, "चीज़-टोस्ट यहाँ की स्पेशल-प्रिपेरेशन है।"

"सच?" उसने चमककर कहा, "मंगवाकर देखें।"

"मैं तो ले नहीं सकूंगा," मैंने कहा, "अभी शचि के साथ चाय पीकर आया हूँ न!"

"तब तो तुम्हें और कुछ नहीं लेना चाहिए," वह बोला, "कहीं बदहज़मी हो जाए तो," और फिर बैरा से, "दो पीस चीज़ टोस्ट!"

चीज़ टोस्ट के आने पर उसने उन्हें जिस तेज़ी से खाना शुरू किया, उसे देखकर ऐसा लगा जैसे वह बरसों का भूखा हो। सॉस की आधी-भरी बोतल को खाली कर जब उसने बैरे से और सॉस लाने को कहा, तब बैरा भी मुस्कराए बिना रह नहीं सका। बैरा जाने लगा तो मैंने कहा, "साहब के लिए एक मसाला-दोसा!"

सुरेश ने विरोध में कुछ कहना चाहा तो मैंने कहा, "यार, तुम तो तकल्लुफ़ कर रहे हो। कुछ खाओगे नहीं तो तबीअत कैसे ठीक होगी?"

वह एहसान जताते हुए बोला, "अब, भई, तुम कहते हो तो खाए

लेता हूं, वरना तुम तो जानते ही हो कि मैं अस्वस्थ हूं। लेकिन दोसा सादा ही लूंगा और तुम्हें भी हिस्सा बटाना पड़ेगा।"

मैंने देखा, सब बैरे सुरेश की ओर आश्चर्य से देखते हुए मुस्करा-मुस्कराकर परस्पर कानाफूसी कर रहे थे।

दोसा खाने के बाद मैंने पूछा, "और क्या लोगे ?"

"और कुछ नहीं। तुम तो जानते ही हो कि तबीयत ठीक न होने के कारण मैं भर पेट खा नहीं पाता।"

'अब भई, पूरा खाना आज रात से ही शुरू कर दो। भला कोई बात है कि आदमी को भूख न लगे। और हां, जब ठीक से भूख लगने लगे तो दुनिया को चुनौती देना कि कौन मां का लाल है जो खाने में मेरा मुकाबला कर सके।"

"क्या मतलब ?" सहसा क्रोध में भरकर उसने पूछा।

मैंने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, मैंने तो यों ही कहा था। तबीयत जब गिर रही हो, तब इसमें अच्छा इलाज और क्या हो सकता है कि डटकर खाया जाए। आखिर इसी तरह तो ताक़त आएगी और टूटती रगों में नए प्राणों का संचार होगा।"

इस से पहले कि वह कुछ कहता, रमेश ने आकर कहा, "हैलो !" और बात वहीं पर थम गई।

"अच्छा भई, चलता हूं," जाते हुए सुरेश बोला।

वह चला गया तो रमेश बोला, "यार, परिचय तो करा देते इससे। बहुत सहेलियां हैं इस की, कुछ फायदा ही रहता।"

"तुम इसे कैसे जानते हो ?"

"क्लब में देखा है। कमाल का ज़िन्दा-दिल है!"

मैं मुस्कराया, "तुमने कभी हाल-चाल तो नहीं पूछा इन हज़रत का ?"

"नहीं तो, कभी बात ही नहीं हुई। क्यों ?"

"कुछ नहीं, ज़रा यों ही", बात टालते हुए मैंने कहा, "और हां, भई, कल क्लब जाते समय मुझे भी साथ ले चलना।"

दूसरे दिन क्लब जा रहे थे कि रास्ते में देखा, सुरेश बस-स्टाप पर खड़ा था। मैंने कार रोककर पूछा, "क्यों भई, कहां जा रहे हो ? कहो तो रास्ते में छोड़ता चलूं।"

"क्यों तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"इण्डिया-गेट," मैं जान-बूझकर झूठ बोला। "क्यों, चलोगे ?"

उसके चेहरे पर वही मुर्दानी छा गई, बोला, "नहीं, यार, तुम्हीं हो आओ, यह सब हमारी किस्मत में कहाँ !"

"क्यों, तबीअत तो ठीक है ?"

अपनी पुरानी आदत से मजबूर होकर वह बोला, "दिल डूब-सा रहा है !"

"अरे, तो आराम करो," मैंने कार चलाते हुए कहा, "अच्छा, गुडबाई।"

कार चली तो रमेश ने पूछा, "क्यों, इसको दिल की बीमारी है क्या ? बेचारा ! पर हाँ, तुम झूठ क्यों बोले कि इण्डियागेट जा रहे हैं ?"

"इसलिये, मेरे दोस्त, कि अगर इसे मालूम हो जाता कि हम भी क्लब जा रहे हैं, तो इसकी दिल की बीमारी ज्यादा बढ़ जाती और तब यह आज क्लब न जा सकता !"

वह चकराया, "क्या मतलब ?"

"यार, ज्यादा टोका मत करो।"

क्लब पहुँचे हमें मुश्किल से पाँच मिनट बीतें होंगे कि एक ऐंग्लो-इण्डियन लड़की के हाथ में हाथ डाले एक अजीब अन्दाज से झूमता हुआ सुरेश भी आ गया।

"जरा इधर हो जाओ, ताकि हमें यह देख न ले", मैंने रमेश को एक ओर करते हुए कहा तो वह चकित होकर बोला, "क्या हो गया है तुम्हें ?"

मैंने होंठों पर अँगुली रखकर कहा, "चुप !"

सुरेश ने आते ही खुशी से झूम कर, चिल्लाकर कहा, "चीरियो, कामरेड्स ! देर किस बात की है, हो जाए डांस शुरू !"

और कहते ही उस ऐंग्लो-इंडियन लड़की की कमर में हाथ डालकर उसने इस क़दर तेज़ी से नृत्य करना शुरू किया कि तालियों से क्लब गूँज उठा।

उसने एक अजीब अदाज से झुककर इस सम्मान को स्वीकार किया। क्लब में जैसे हर लड़की उसके साथ नृत्य करने को बेक़रार थी और वह भी गोया उन पर अहसान करने के लिए ही एक-के-बाद-एक नई लड़की के साथ नृत्य

करता रहा। रमेश चकित होकर बोला, "यार, इसका तो दिल डूब रहा था !"

और मैं उस टेबल की ओर देख रहा था जिस पर तीन लड़कियों के साथ बैठकर सुरेश ने चिल्लाकर कहा, "ह्विस्की !"

खुशी और जोश से उनका चेहरा चमक रहा था। फिर चिल्लाकर वह बोला, 'हैलो सूद, शुरू करो यार, तुम भी कैसे मुर्दादिल हो !"

तभी चुपके से रमेश के साथ जाकर मैंने कहा, "हैलो, सुरेश !"

मुझे देखकर वह घबड़ा गया। "तुम तुम यहाँ कैसे ? तुम तो इण्डिया गेट जा रहे थे न ?" जल्दी से उठकर मुझे एक ओर लेजाकर उसने पूछा।

मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया, "प्रोग्राम कैंसिल कर दिया। सोचा कहीं नृत्य करने-करते तुम बेहोश न हो जाओ, इस कारण क्लब चला आया। तुम्हारा दिल डूब रहा था न, अब कैसी तबीयत है ?"

उसके चेहरे का रंग उड़ गया, अपनी टेबल की ओर देखकर वह बोला, "इस बार रहम करो, सुरेन्द्र, इस बार मेरी इज्जत बची रहने दो।"

मैंने उसे सात्वना देते हुए कहा, "अरे, मैं तुम्हारी मान-हानि करूँगा ?...लेकिन तुमने बताया नहीं, अब दिल का क्या हाल है ?"

गिड़गिड़ाते हुए वह बोला, "सुरेन्द्र, प्लीज ...।"

मुझे तरस आ गया, बोला, "अरे, इतना घबड़ा क्यों रहे हो, यार, मैं किसी से कुछ कहूँगा थोड़े ही। पर खुशकिस्मत हो, दोस्त ! हम तो दुआ करते हैं कि ऐसी दिल की बीमारी हमें भी हो जाए। दाद देता हूँ, दिल के डूबने का इलाज अच्छा ढूँढा है तुमने ! अच्छा जाओ, कहीं उनसे इतनी दूर रहने से दिल फिर न डूबने लगे।"

मैं जाने लगा तो वह बोला, "कुछ खाओ-पीओ तो सही, यार। आओ परिचय भी करा दूँ। फिर नाइट-शो देखेंगे।"

मैंने जाते-जाते मुस्कराकर कहा, "नहीं दोस्त, न तो मेरा दिल डूब रहा है, न जिस्म टूट रहा है और न आँखों में सूनापन ही समा रहा है . । चीरियो !"

लेकिन मैं खूद जानता हूँ कि हमेशा उन सब के सामने, जिन्हें उसकी इस अभिनय-कुशलता का ज्ञान नहीं है, उसका दिल डूबेगा, जिस्म टूटेगा और आँखों में सूनापन समाएगा।

१०

मोह के वन्धन

Moh Ke Bandhan

किशोरीलाल ने घर के अन्दर कदम रखा ही था कि पार्वती ने आकर कहा, "कुछ सुना, शशि की बहू के लड़का हुआ है ।"

चारपाई पर बैठकर निर्लिप्त भाव से वह बोला, 'अच्छा ।"

पार्वती उत्साहपूर्वक बोली, "अब तुम दादा बन गए हो, दादा !"

उसी लहजे में वह बोला, "कौन कभी किसी का हुआ है, शशि की माँ। प्यार, मोह केवल छलना है, आत्म-प्रवचना का प्रतिरूप !"

पार्वती सकते में आ गई, बोली, "क्या कहते हो जी तुम, भला अपनों से किसे मोह नहीं होता ?"

पर किशोरीलाल तो ममता, मोह से कब का नाता तोड़ चुका था। वह केवल मुस्कराया, जैसे पार्वती की अबोधता पर उसे तरस आ रहा हो। हाँ, जो इंसान जिंदगी से सबक सीखना ही न चाहे, उसे कहा भी क्या जाए ! दो-क्षण चित्रवत् खड़ी रहकर पार्वती ने एक लम्बी साँस ली और रसोईघर में चली गई। इधर एक अरसे से पार्वती किशोरीलाल में एक क्रांतिकारी परिवर्तन होते देख रही थी, पर वह इतना भयानक रूप धारण कर लेगा, इसकी उसने कल्पना भी न की थी। भला कोई बात भी हो, अपनी संतान कितनी भी बुरी हो, पर कोई इस तरह नाता तोड़ देता है ?

किशोरीलाल को वह दिन याद आया, जिस दिन शशि पैदा हुआ था। प्यार से विभोर होकर उसने कहा था, "कितना सुंदर है मेरा बेटा, कितना प्यारा !"

अपना पेट काटकर और पत्नी के गहने बेचकर भी वह शशि को पढ़ाता गया, इस आशा में कि डाक्टर बनकर वह उसके बुढ़ापे का सहारा बन सके। वह दिन उसे आज भी याद है, जिस दिन एक सरकारी अस्पताल में शशि को नौकरी मिली थी। किशोरीलाल को लगा था जैसे उसने सवेरा पहली बार देखा हो। नौकरी एक दूसरे शहर में जरूर मिली थी, पर इससे क्या हुआ, तीन सौ की नौकरी, फिर रहने को बंगला मुफ्त, कोई कम बड़ी बात है ?

शशि ने जबलपुर से पहले महीने डेढ़ सौ रुपये भेजे तो हर्ष से काँपते हुए उसने कहा था, "अब शशि की शादी जल्दी कर दो, शशि की माँ।"

चार महीने बाद ही शशि की शादी हो गई। नवविवाहिता पत्नी के साथ वह जाने लगा, तो किशोरीलाल के हृदय में प्यार का सागर उमड़ आया था, "बहू को किसी प्रकार की कमी महसूस न होने देना, बेटा।"

पर विवाह के छै महीने भी न बीत पाये थे कि किशोरी लाल के वे सपने चूर हो गये। विवाह के दो महीने बाद शशि का पत्र आया

"पूज्य पिताजी,

घर का खर्च बढ़ जाने के कारण मैं इस बार सौ रुपये से अधिक नहीं भेज सकूँगा।

—आपका बेटा, शशि।"

इसके बाद शशि के पत्र छोटे होते गये। हर महीने हाथ तंग होने के कारण रुपये भी कम होते-होते पचास तक आ गये। कभी-कभी किशोरीलाल को लगता कि शशि कुछ बदल-सा गया है, कि हाथ तंग होने की बात महज बहाना है। पर दूसरे ही क्षण वह स्वयं पर भुँझलाने लगता—अरे, उसका शशि इतना गिर सकता है?

पर उस दिन पड़ोस का रामलाल जबलपुर से आया तो बोला, "तुम्हारे बेटे के तो बड़े ठाट हैं, किशोरीलाल।"

उसे टोककर वह बोला, "किसी बात की कमी तो नहीं उसे?"

"कमी किस बात की, दो महीने हुए उसका वेतन तीन सौ से चार सौ रुपये हो गया है, भला किसका सितारा इतना बुलन्द होता है? आज इसकी पार्टी है तो कल उसकी अरे, तुम्हारा बेटा तो राज कर रहा है, राज!"

इसके अतिरिक्त किशोरीलाल से कुछ सुना नहीं गया। तो उसकी आशंका सत्य सिद्ध हुई क्या? पर पिता का विश्वास हार नहीं मान सका था, भला उसका शशि अपने माँ बाप को इस तरह धोखा दे सकता है? बर्फानी हवा का एक झोंका आया तो उसे याद आया कि सर्दियों के लिए उसके और उसकी पत्नी के पास एक भी गरम कपड़ा नहीं था। और फिर शशि की माँ की तबीयत भी कुछ दिनों से ठीक नहीं थी। काफी सोचने के बाद उसने बेटे को इस बारे में लिखा तो बेटे का उत्तर आया था

"पिताजी,

मुझे खेद है कि हाथ तंग होने के कारण मैं इस समय और रुपये भेजने में असमर्थ हूँ। आशा है कि आप मेरी मजबूरी समझेंगे। बुरा न मानें तो एक बात कहूँ, आप खर्च जरा किफायत से किया करें।

बेटा, शशि।"

पढ़कर किशोरीलाल स्तम्भित रह गया था। दो क्षण वह उस पत्र को देखता रहा था, मानो उसे अपनी आँखों पर विश्वास न हो रहा हो। आखिर हारकर उसने पत्र बन्द कर दिया था—हाँ, पत्र उसके शशि का ही था, शशि का जिसके सहारे उसने रंगीन स्वप्न देखे थे, ऊँचे-ऊँचे महल बनाये थे।

पार्वती ने खाँसते हुए अन्दर आकर कहा था, "भला इस तरह कब तक बैठे रहोगे ? अरे, यह सब तो हमेशा से होता आया है, फिर दुखी होने से लाभ ?"

पत्नी के मुरझाए चेहरे को देखकर किशोरीलाल को याद आया था कि दस रोज से उसने दवाई की एक बूँद भी नही पी थी। पीती भी कैसे, खरीदने को पैसे हों तब न ! और बेटे का पत्र आया है, किफायत से खर्च किया करो ?

सोचकर किशोरीलाल के दिल में दर्द-सा होने लगा—हाँ, पार्वती ने ठीक ही कहा था, यह सब तो हमेशा से होता आया है, कोई नई बात थोड़े ही है। किंतु आज वही पार्वती ममता, मोह के बन्धन फिर से बाँधना चाहती है। यह कोरी भावुकता के अतिरिक्त क्या है आखिर ? और भावुकता और मूर्खता में अन्तर ही कितना है ?

विचारों की शृङ्खला बढ़ती जा रही थी कि पड़ोसी हीरालाल ने आकर कहा, "कुछ सुना, चाचा, सुरेश सेठ नानकचन्द की दुकान पर नौकर है, चालीस रुपये महीने पर।"

पार्वती ने सुना तो उसके दिल की धड़कन बन्द हो गई, व्याकुल होकर बोली, "हाय मेरा लाल ! मुझे कल उसके पास ले चलना, भैया, मैं उसे मना लूँगी। भला कोई इस तरह रूठ जाता है ?"

किशोरीलाल ने कठोर स्वर में कहा, "किसी के पास जाने की जरूरत नहीं, सुरेश की माँ !"

पार्वती ने विरोध करते हुए कहा, "तुम कैसे हो जी ?"

"तुमने सुना नहीं, पारो ?"

पार्वती स्तब्ध रह गई। हो क्या गया है इन्हें ? मोह, प्यार तो जैसे छू तक न गया हो ! भला आदमी अपनों को पराया कैसे मान ले ? वह दिन उसे याद आया जब दूर के रिश्ते की एक विधवा बहन की मृत्यु हो जाने पर उसकी सात वर्षीय इकलौती सतान सुरेश को उसकी गोदी में देते हुए किशोरीलाल ने रुँधे कंठ से कहा था, "आज से इसे अपना ही बेटा समझना, शशि की माँ।"

पार्वती ने ममता में भरकर सुरेश को छाती से लगा लिया था तो भावातिरेक से किशोरीलाल की आँखों में आँसू आ गये थे। शशि को बुलाकर उसने कहा था, "आज से सुरेश तेरा छोटा भाई है, बेटा !"

चौदह वर्षीय शशि ने उछलकर जब कहा, "यह कितना सुन्दर है, पिताजी," तो किशोरीलाल के दिल से एक बोझ-सा उतर गया था।

डेढ़ सौ रुपयों की क्लर्की के पश्चात् थका-माँदा किशोरीलाल घर लौटता तो माँ के पास जाने के लिये रोते सुरेश को चुप कराने के लिये वह कभी उसे टॉफी और कभी गोली ले देता। सुरेश माँ को भूलकर उसके गले में बाहें डाल देता। उसे ऐसा लगता जैसे इस भोले, मासूम बच्चे के प्यार ने उसकी ज़िंदगी में एक नया आकर्षण उत्पन्न कर दिया हो। मोहल्ले की पाठशाला में उसने सुरेश को भी दाखिल करा दिया। इससे दो दिन बाद की बात है, एक दिन मास्टर रामकिशन उससे मिले तो बोले, "सुरेश का ख्याल रखा करो, किशोरीलाल। चोरी करना सीख गया है।'

"क्या.. ?"

क्रोध से काँपते हुए घर आकर सुरेश के कान पकड़कर उसने पूछा था, "तू चोर करना सीख गया है, रे ?"

सुरेश सहमा-सा खड़ा रहा तो गरजकर वह बोला था, "खबरदार जो फिर ऐसी शिकायत आई तेरे बारे में।"

सुरेश डरकर दो कदम पीछे हट गया तो उसे पुचकारकर वह बोला था, "चोरी करना बहुत बुरी बात है, बेटे, फिर कभी मत करना, समझे ?"

पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया था, सुरेश के बारे में शिकायतें बढ़ती गई थीं। बहुधा प्यारवश किशोरीलाल सुनकर अनसुना कर देता। महीने

वर्षों मे बदल गए। एक दिन शाम को किशोरीलाल घर आया तो उसकी आँखो के सामने अंधेरा छा रहा था—उसकी नौकरी छूट गई थी। उसने अन्दर कदम रखा तो उसे ऐसा लगा कि जैसे घर मे मौत का-सा सन्नाटा छाया हो। सहमकर उसने पूछा, "क्या हुआ, सुरेश की माँ ?"

बुझने दिल से पार्वती बोली थी, "तुम्हारा बेटा नशे मे चूर अन्दर पड़ा है।"

किशोरीलाल सकते मे आ गया। अन्दर जाकर उसने जो देखा तो क्रोध के मारे उसकी मुट्ठिया भिच गई थी, "सुरेश !"

सुरेश उसी तरह पड़ा रहा था। क्रोध से पागल हो वह आगे बढ़ा तो उसे रोकते हुए पार्वती ने कहा था, "जो कहना हो कल सुबह कह लेना, इस समय वह होश मे थोड़े ही है।"

"तुम हटो जी !"

"तुम्हें मेरी कसम जो इस समय कुछ कहो। क्यो रात के वक्त सारी दुनियाँ मे ढिढोरा पीटते हो ?"

बड़ी मुश्किल से स्वय को वश मे करके वह सुबह की इतजार करने लगा। सुबह हुई, उसकी आँखें खुली तो देखा, सुरेश अपनी चारपाई पर बैठा अगड़ाई ले रहा था। गरजकर वह बोला, "तूने कल शराब पी थी ?"

सुरेश ने कोई उत्तर नही दिया तो वह बोला, "जवाब क्यो नही देता ?"

"आप कौन होते हैं मुझसे जवाब तलब करने वाले ?" सुरेश अकड़कर बोला तो किशोरी लाल सकपका गये थे, "क्या कहा ?"

"आपके साथ मेरा निर्वाह नही हो सकता। जब से होश सम्हाला है, डाँट ही खाई है। आप मेरे पिता नही है जो ।"

"बको मत !"

"आप रोब किस बात का डाल रहे हैं ? मैं जा रहा हूँ, आप की दो रोटियो का मुहताज नही हूँ।"

हतबुद्धि से किशोरीलाल जाते हुए सुरेश को देखता रहा था। उफ, दुनियाँ कितनी कृतघ्न है !, और आज वही सुरेश किशोरीलाल ने घृणा से मुँह बिचका लिया, मेरा किसी से कोई नाता नही रहा अब।

पर तसल्ली देकर इमान कब तक जी सका है ? किशोरीलाल के दिल मे दर्द सा होने लगा। उसे किरण की याद आई। प्यार में वे वायदे, उनकी

स्मृति आज भी उनके अन्तःकरण को बींधती है। वे दिन उसे आज भी याद हैं जब उसे अपनी ओर खींचकर वह कहता, "किरण !" और किरण प्यार से विभोर होकर उससे लिपट जाती थी। जन्म-जन्मान्तर तक साथ रहने की वे प्रतिज्ञा करते। ज़िन्दगी इतनी मधुर किशोरीलाल को कभी नहीं लगी थी। पर एक दिन वह किरण के घर गया तो उसे जैसे अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ—किरण श्याम के बाहुपाश में बँधी हुई थी। कुछ क्षण वह देखता रहा और फिर धीरे-धीरे वापस चला आया, उसकी ज़िन्दगी जैसे लुट गई हो। प्यार का अन्त इतना करुण, इतना निर्मम होगा, उफ़ ! ज़िन्दगी में उसका सारा आकर्षण ख़त्म हो गया। माँ-बाप को वह बचपन में ही खो चुका था। एक रिश्तेदार की कृपा से एम ए पास करने के बाद वह अस्सी रुपये महीने पर एक मारवाड़ी सेठ की दुकान पर क्लर्क लग गया था। इतनी बड़ी दुनियाँ में किरण ही थी, जिसे वह अपनी कह सकता था। किन्तु वह उसके साथ इतना बड़ा मज़ाक करेगी, किशोरीलाल ने कभी नहीं सोचा था।

किसी तरह वह ज़िन्दगी के प्रति फ़र्ज़-अदायगी निभाए जा रहा था कि एक दिन उसके वे ही रिश्तेदार आकर बोले, "मैं किशनचन्द की बेटी पार्वती से तुम्हारी सगाई पक्की कर आया हूँ, बेटा।"

किशोरीलाल जानता था, उसकी पसन्द का कोई महत्व नहीं, शादी तो उसे यहीं करनी पड़ेगी ही। आज से दो महीने पहले वह डटकर इसका विरोध करता, किन्तु अब ज़िन्दगी की वह आग उसमें बुझ चुकी थी, बुझे मन से उसने हामी भर दी।

सुहागरात को घूँघट उठाकर उसने देखा, पार्वती देखने में बुरी नहीं थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, पत्नी का प्यार उसके दिल के घाव को भरता गया और जब दस महीने पश्चात् एक तीसरे प्राणी ने आकर उनके प्यार पर मुहर लगा दी, तो वह आनन्द से विभोर हो गया था। पार्वती ने प्यार से बच्चे को थपथपाकर कहा था, "क्यों जी, इसका नाम चाँद कैसा रहेगा ?"

पुलकित होकर वह बोला था, "अरे, चाँद-सा सुन्दर तो यह है ही !"

चाँद की मासूम मुस्कान देखकर उसकी दिन-भर की थकान दूर हो जाती। उसकी तोतली बोली सुन प्यार से विभोर होकर वह उसे चूमने

लगता था, इतना कि पार्वती को याद दिलाना पड़ता, "आज खाना नहीं खाओगे क्या ?"

ज़िन्दगी मे खोया आकर्षण फिर से पैदा हो गया, मानो उसे जीने का एक नया आधार मिल गया हो ।

पर एक दिन वह ऑफिस से घर आया, तो पार्वती ने रुँधे कंठ से कहा, "चाँद को पता नहीं क्या हो गया है, बोलता ही नहीं ।"

सकपकाकर वह अन्दर गया तो देखा, चारपाई पर सोया पड़ा चाँद बड़बड़ा रहा था, आँखें उसकी चढ़ी हुई थी और शरीर तवे के समान तप रहा था । घबड़ाकर वह वैद्यजी को बुला लाया, किन्तु रात के दो बजे इस दुनियाँ से, माँ-बाप के दुलार से, प्यार से हमेशा के लिए नाता तोड़कर चाँद चल दिया ।

नियति के इस क्रूर व्यंग्य ने किशोरीलाल के दिल को बींध दिया। इतनी अप्रत्याशित चोट सहने की हिम्मत नहीं थी उसमे । हर गुज़रते दिन के साथ ज़िन्दगी मे उसकी आस्था खत्म होती गई । उसे लगा कि जैसे ज़िन्दगी का बोझ वह ढो नहीं पाएगा । उफ, प्यार का अन्त एक लम्बी अँधेरी रात ही है क्या ?

पर आशा-दीप पूर्णतया बुझ नहीं पाया, अंधकार रोशनी को निगल नहीं सका । चाँद की मृत्यु के दस मास पश्चात् शशि का जन्म हुआ तो जैसे ज़िन्दगी फिर मुस्कराई, शशि के रूप मे प्यार एक बार फिर उसकी ज़िन्दगी का सहारा बनकर आया । हाँ, आखिर इंसान अतीत के कटु अनुभवों के कारण प्यार के नातों रिश्तों को कैसे तोड़ दे ? लेकिन आज . हाँ आज उसी शशि का पत्र आया है कि ।

और कुरेदा किशोरीलाल के दिल में वेदना की एक लहर सी उठी । प्यार, ममता, मोह ने दर्द, अभाव और घुटन के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया, कितना बड़ा व्यंग्य है यह !

ज़िंदगी का चक्र रुका नहीं, किन्तु गहन अनास्था और अनासक्ति के सर्प ने किशोरीलाल के सारे जीवन को विषाक्त कर दिया।

एक दिन वह लेटा हुआ था कि पार्वती ने तेज़ी से आकर कहा, "बहू का पत्र आया है, मुन्ना बहुत बीमार है ।"

खीझकर वह बोला, "तुम मुझे कभी चैन लेने दोगी कि नहीं ? मेरा

११

अपनी-अपनी वात

१

दफ्तर से घर आते समय अविनाश का दिल क्रोध से उबल रहा था। रह रह कर मिस्टर चैटर्जी के शब्द उसके कानों में गूँज उठते, "तुम काम ध्यान लगाकर क्या नहीं करता? हम रोज़-रोज़ की ग़लतियों को कैसे माफ कर सकेगा?"

अविनाश का मन किया था कि कहे साहब, आज ही तो ग़लती हुई है। लेकिन सिर झुकाए वह सुनता रहा, जवाब देकर नौकरी को लात कैसे मार दे वह?

उसे चुप देख मेज पर ज़ोर से हाथ मारते हुए भल्लाकर मिस्टर चैटर्जी ने कहा, "जाओ, आगे ऐसी ग़लती न हो, तुम्हारे साथ सिर खपाने के लिए हमारे पास वक्त नहीं है, सुना?"

अविनाश क्रोध से तिलमिला उठा था—साले को सारे दिन मेज पर पैर रखे सिगार फूँकने रहने से तो छुट्टी नहीं मिलती और बातें देखो कितनी बनाता है! लेकिन दिल के गुबार दिल ही में रह गए और उसे खून का घूँट पीकर चुप रह जाना पड़ा। इन्सान की सबसे बड़ी कमज़ोरी और दुख उसकी विवशता है।

घर आते समय सारे रास्ते वह बड़बड़ाता रहा, "साला आदमी है कि रेल का इंजन, कभी ठंडा ही नहीं होता! सिवाय हुक्म चलाने और भिड़कियाँ देने के साले को कोई काम ही नहीं है, और जब मुआयने का समय आता है तो कैसी मीठी-मीठी बातें बनाता है, शिष्टाचार का कैसा ढोंग रचता है! उल्लू का पट्ठा!"

विचारों की कड़ी टूटी, ज़ोर-ज़ोर के नारों से वह चौंक उठा। देखा, लगभग पाँच सौ व्यक्तियों का एक जलूस बड़े ज़ोरों से नारे लगा रहा था, "तानाशाही बंद करो! अत्याचारी मुर्दाबाद! न्याय हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है!"

अविनाश की रगों में एक नया खून दौड़ गया, आशा की एक नई

लहर में वह बह गया। उसका मन किया कि चिल्ला-चिल्लाकर मिस्टर चैटर्जी को सुना दे कि अन्याचार का ज़माना लद गया है और न्याय की विजय होकर ही रहेगी।

लेकिन उसे भूख बड़े ज़ोर की लगी थी, इसलिए वह लम्बे डग भरता हुआ तेज़ी से चलता गया। इसी पेट की खातिर ही तो आज इतना अपमान सहना पड़ा था—सोचकर अविनाश क्रोध से भर गया—फिर भी उसकी पूजा किए बिना वह कैसे रह सकता था!

काठ के उल्लू कुरसी पर बैठकर अपने को खुदा की दुम समझने लगते हैं। क्या शान से टाँगें फैलाए हुक्म चलाते हैं—यह करो, वह करो, ऐसा क्यों किया, वैसा क्यों किया। इतनी भी अक्ल नहीं कि आखिर इन्सान ही से तो भूल होती है। लेकिन नहीं, देखता ऐसे है जैसे खा जायगा।

घर पहुँचकर उसने देखा, दरवाज़ा बंद था। वह झुंझला उठा, "जब देखो दरवाज़ा बंद, जैसे दिनदहाड़े चोर-डाकू ही तो घुस आयेंगे!" उसने दरवाज़े को बेदर्दी से पीटना शुरू किया।

आखिर शैल ने दरवाज़ा खोला, "क्या करते हो? इतनी ज़ोर से खटखटाने की क्या ज़रूरत थी? आ तो रही थी! मुहल्ले वाले क्या कहते होंगे!"

"मुहल्ले वाले जायें जहन्नुम में!" वह उबल पड़ा, "और हाँ, मेरे सामने बहुत बोला मत करो, सुना?"

पति के तेवर चढ़े देखकर शैल चुप हो रही।

"पापा आ गए, हमारी टॉफी लाए?" कमरे में प्रवेश करते ही नीना ने उछलकर उसकी गोद में चढ़ने का प्रयत्न करते हुए पूछा।

"चल, दूर हट! ऊपर क्यों चढ़ी आती है?" उसे धकेलते हुए अविनाश बोला, "चल, भाग!"

पापा के तेवर देखकर नीना का मुँह उतर गया, रुआँसी होकर बोली, "लेकिन, पापा, हमारी टॉफी।"

"तू जाती है कि मार खाएगी? कम्बख्त को खाने और सोने के सिवा कोई और काम ही नहीं है!"

"जा, बेटी, कल ला देंगे," नीना को सहमी देखकर प्यार से उसे बाहर भेजते हुए शैल ने कहा, "पापा की तबीयत आज ठीक नहीं है, हूँ!" और फिर अविनाश की टाई खोलती हुई बोली, "तबीयत खराब है क्या?

चाय बनाऊँ ?"

"नहीं !"

"एक प्याला पी लो, तबीयत जरा ठीक हो जायगी।" अविनाश के जूतों के फीते खोलते हुए शैल बोली।

"मुझे तंग मत करो, अपनी यह डॉक्टरी अपने पास ही रहने दो, सुना? एक मिनट भी तो चैन नहीं लेने देती !"

शैल स्तब्ध रह गई—जाने क्या हो जाता है इन्हें कभी-कभी, सीधे मुँह बात ही नहीं करते। बात करो तो खाने को दौड़ते हैं।

"मेरी कॉटन की पैंट कहाँ है ?" दो क्षण की चुप्पी के पश्चात् अविनाश ने पूछा।

"क्यों, कहीं जा रहे हो क्या ?"

"हाँ, क्लब।" तीखे स्वर में अविनाश ने कहा।

"क्लब थोड़ी देर बाद चले जाते, अभी तो बहुत समय है," डरते-डरते शैल बोली, "थोड़ा आराम कर लो, फिर चले जाना।"

"मैं कहता हूँ, तुम मेरी हर बात में टाँग क्यों अड़ाती हो ? आखिर अपनी यह आदत तुम कब छोड़ोगी ? अपना भला-बुरा मैं खुद सोच सकता हूँ, समझीं?" आलमारी में से पैंट निकालकर उसे पहनते हुए वह बोला।

शैल रुआँसी हो गई, "हाँ, मैं कौन होती हूँ तुम्हारी बातों में दखल देने वाली ! जाने क्या हो गया है तुम्हें—सीधे मुँह बात ही नहीं करते, जैसे किसी से लड़कर आये हो।"

अविनाश का पारा और चढ़ा, "तुम अपनी यह बकवास बंद भी करोगी या काम तो कुछ करना नहीं, बातें बनाना और आँसू बहाना खूब आता है। सुबह पच्चीस बार कहा कि पैंट में बटन लगा देना, लेकिन नहीं, इसमें रानी साहब का भी क्या कसूर—अपने बनाव-शृंगार से उन्हें छुट्टी मिले तब न !"

"अरे, मैं तो भूल ही गई थी," शैल लज्जित होकर बोली, "लाओ, लगा दूँ। असल में सारा दिन सिर-दर्द इतना होता रहा कि कुछ काम करने को मन ही नहीं किया।"

"रहने दो, मैं सब समझता हूँ," अविनाश बोला, "ये बहाने किसी और के सामने बनाना।"

शैल स्तब्ध रह गई—क्या हो गया है आज अविनाश को ? शैल के ज़रा-सा भी सिर-दर्द होने पर जो डॉक्टरों के पास भागा फिरता था वह आज. .।

"सुई, धागा और बटन कहाँ हैं ?" अविनाश ने झुँझलाकर पूछा।

शैल बटन लगाने लगी तो वह पीछे हट गया, "रहने दो, मैं खुद लगा सकता हूँ।"

शैल की आँखों में आँसू आ गए, बोली, 'एक भूल की इतनी बड़ी सज़ा तो न दो। आखिर इन्सान ही से तो भूल होती है !"

अविनाश ज़रा ठिठका। हाँ, वह भी तो सारे रास्ते यही कहता आया था कि आखिर इंसान ही से तो भूल होती है। मानव पूर्ण रहा ही कब है ? लेकिन दूसरे ही क्षण वह सँभल गया—जब उसके साथ ही नरमी नहीं दिखाई गई तो वही क्यों दिखाए ?

"रहने दो," उसने कठोर स्वर में कहा, "कोई ज़रूरत नहीं।"

अविनाश के उसी तरह क्लब में चले जाने से शैल की आँखों में रहा-सहा मेघ भी बरस पड़ा—जाने क्या हो गया है इन्हें, जितना ही झुको, सिर पर ही चढ़े आते हैं। दुनियाँ आखिर इतनी निर्मम, इतनी निष्ठुर, इतनी कटु बन कैसे जाती है ? दूसरों को दुखी देखकर भी आखिर उसे तरस क्यों नहीं आता ? शैल की आँखों में उस समय इतनी करुणा थी कि विधाता के दिल होता अगर, तो वह रो पड़ता।

"ममी, पापा कहाँ गये ?" नीना ने आकर पूछा।

"गये होंगे कहीं सैर-सपाटा करने," शैल कटुता से बोली, "मर्दों को घूमने की जगहों की कोई कमी है !"

"ममी, पापा को आज इतना गुस्सा क्यों आ रहा था ?"

"आये होंगे किसी से लड़कर, और गुस्सा घर वालों के सिवा और किस पर उतर सकता था !" शैल कहती गई और नीना आँखें फाड़े दिमाग पर पूरा ज़ोर डालकर समझने की कोशिश कर रही थी कि ममी आखिर कह क्या रही है !

"हिन्दुस्तान की नारी को झिड़कियाँ खाने और अत्याचार सहने के अलावा काम ही क्या है !"

"ममी, ८ बज गए हैं, बहुत भूख लगी है, लेकिन रामू ने अभी खाना तैयार ही नहीं की।

विचारों की कड़ी टूटी, शैल को सहसा क्रोध आ गया, "रामू, ओ रामू !" उसने चिल्लाकर कहा, "अरे, कहाँ मर गया है ?"

"जी, बीबीजी," दो क्षण पश्चात् रामू ने आकर कहा।

"क्यों रे, कब से गला फाड़ रही हूँ, तुझे सुनाई नहीं देता क्या ?"

"आए तो रहे, बीबीजी !"

लेकिन शैल थी कि बोले जा रही थी, "मुए को अंगड़ाइयाँ और उबासियाँ लेने के सिवा कोई काम ही नहीं है। क्यों रे, आज चाय को इतनी देर क्यों कर दी ?"

"देर कहाँ हुई है, बीबीजी ! आप रोज इसी वक्त तो चाय पीयो हो।"

शैल उबल पड़ी, "तुमसे कितनी बार कहा है, ज़बान मत लड़ाया कर। काम करना है तो चुपचाप किया कर, वरना नौकरों की कमी नहीं है, सुना ?"

रामू बड़बड़ाता हुआ रसोई की ओर चल दिया, "सारे दिन काम करते-करते मर तो जाएँ हैं, लेकिन सिवा झिड़कियों और धमकियों के जैसे हम पशु हों।"

"अरे ओ रामू, पानी डाल दे जल्दी, मुझे दर हो रही है," बाहर से जमादारनी की आवाज सुनाई दी।

"ठहर री, आसमान सिर पर क्यों उठाए हो !" रामू की डाँट सुनाई दी।

रामू चाय का पानी और दूध रखकर जाने लगा तो शैल फिर बोली, "तुझे कब अक्ल आएगी कि चाय के साथ छलनी रखते हैं ! रोज-रोज एक ही बात समझाते समझाते दिमाग़ खराब हो गया है मेरा।"

रामू का मन किया कि कहे- दिमाग तो आपका शुरू से ही खराब था बीबीजी, पता आपको आज चला है।

"रामू, अरे ओ रामू !" जमादारनी की आवाज़ फिर सुनाई दी।

सुनकर रामू को आग लग गई, "चुप कर री लाट साब की बेटी ! सिर पर क्यों उठाए हो ?"

"दो घंटे तो हो गए, और कितनी देर बैठूँ ?"

"अच्छा, अच्छा, बहुत बातें मत बना, नहीं तो दो घंटे और बिठाऊँगा।" ने तेवर चढ़ाकर कहा।

"ज़रा जल्दी कर दो, भैया," जमादारनी ने गिड़गिड़ाकर कहा, "अभी मुझे तीन घर और भी करने हैं।"

"अरे, तो यहाँ कौन खाली बैठे हैं? चुपचाप बैठ, बकवास बन्द कर!" अन्दर जाते हुए वह बोला।

"क्या आँखें लाल-लाल करके देखता है मुआ, जैसे खा जायगा! कभी सीधे मुँह बात ही नहीं करता। हर रोज़ तंग करने से जाने इसे क्या मिलता है!" जमादारनी मुँह चढ़ाकर बोली, 'अपना राज है, राज!"

१२

हाँ, वह मेरा दुश्मन है

बगल के कमरे से चुन्नू के रोने की आवाज सुनाई दी तो शशि चिल्लाई, "शेखर, तूने इसे फिर मारा क्या ?"

शेखर जल्दी से आकर अपनी सफाई देते हुए बोला, "अम्माँ, अपना खिलौना तोड़कर मेरा खिलौना माँगता है, मैंने नहीं दिया तो रोने लगा।"

शशि ने उसे पुचकारते हुए कहा, 'दे दे बेटा, तेरा छोटा भाई जो है। दे दे, बड़ा अच्छा लड़का है।"

'नहीं, मैं नहीं दूँगा," खिलौने को कसकर पकड़ते हुए शेखर बोला, "मुझे वह अपनी कोई चीज देता है ?"

शशि ने फिर पुचकारा, "अबोध जो है वह। तू तो राजा बेटा है न !"

मा से प्रोत्साहन पा तीन वर्षीय चुन्नू ने सारा घर सिर पर उठा लिया, पर शेखर इस प्रकार झाँसे में आने वाला नहीं था, बोला, "मैं नहीं बनता राजा बेटा, हमेशा राजा बेटा कहकर ही मेरी सब चीजें उसे दिला देती हो।"

"अरे, तुझे तो यह बहुत अच्छा लगता है," शशि ने एक दाँव और चलाया, "देख तो, कितना प्यारा है यह ! और फिर छोटे भाई को रुलाया करते हैं ?"

इतने दिन का गुबार आज विद्रोह के स्वर मे फूट पड़ा, वह चिल्लाकर बोला, "नहीं, नहीं, मैं कभी नहीं दूँगा मुझे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। हमेशा पिटवाता रहता है और बनता है मेरा भाई। देख लेना, मैं इसे किसी दिन जान से मार डालूँगा !"

सुनकर शशि सकते मे आ गई। एकटक उस आठ-वर्षीय बच्चे की ओर देखती रह गई, जिसके चेहरे से ऐसा लगता था जैसे खून करके आया हो। फिर खिलौना उसके हाथ से छीनकर जोर से एक चपत मारती हुई वह बोली, "फिर कहा तो जबान खीच लूँगी। बोल, यह सब किससे सीखकर आया है तू ? गंदे आवारा लड़कों के साथ खेलन खलने अब घर से बाहर कदम रखा तूने, तो टाँगें चीर दूँगी, सुना? आने तो दे आज पापा को, तुझे घर से निकाल

बाहर नहीं किया तो कहना !"

पर शेखर आज विद्रोह करने पर तुल गया था, अक्खड़ स्वर में बोला, "निकाल दो, मुझे परवा थोड़े ही है। मैं खुद इस चुन्नू के बच्चे के साथ नहीं रहना चाहता। यह तो मेरा दुश्मन है, दुश्मन !" दुश्मन शब्द का पूरा अर्थ न समझते हुए भी उसने सुना-सुनाया शब्द दोहरा दिया।

शशि स्तंभित रह गई, फिर चीखकर बोली, "तू चुप करेगा कि नहीं ? अम्माँ के सामने ऐसे बोला करते हैं !"

शशि पीटते-पीटते बेदम हो गई, पर शेखर कहता गया, "हाँ, वह मेरा दुश्मन है, जरूर दुश्मन है, और तुम मेरी अम्माँ नहीं हो, चुन्नू की अम्माँ हो। मारो, और मारो, पर मैं भी इसे जान से मार डालूँगा, तुम देख लेना।"

शशि क्रोध से पागल हो गई। उसे घसीटकर स्टोर में बन्द करते हुए दाँत पीसकर बोली, "आज से तेरा खाना पीना सब बंद। भूखा मरेगा तब पता चलेगा।"

पर शेखर चुनौती देते हुए बोला, "अरे, न दो खाना, मर ही तो जाऊँगा !"

कुर्सी पर बैठकर शशि ने अपना सिर पकड़ लिया। शेखर उसके लिए एक समस्या बनता जा रहा था। बात बात पर चुन्नू को रुलाना, चिकोटी काटकर भाग जाना, एकांत देखकर चपत मार देना . आखिर क्या करे शशि उसका ? रमेश का भी तो छोटा भाई है, कितना प्यार करता है वह उसे, लेकिन यह शेखर ! उसके कानों में शेखर के वे शब्द गूँज उठे, "हाँ, हाँ, यह मेरा दुश्मन है, और तुम मेरी अम्माँ नहीं हो, चुन्नू की अम्माँ हो।" शशि ने कानों में उँगली डाल ली, जैसे वह गूँज उसे पागल बना देगी।

उसे वह दिन याद आया, जिस दिन चुन्नू पैदा हुआ था। उसे देखकर शेखर तालियाँ बजाते हुए बोला था, "देखो, अम्माँ, कितना प्यारा, कितना छोटा है यह, पिद्दी-सा ! अम्माँ, यह मेरा छोटा भाई है न ?" और तब तेजी से चिल्लाता हुआ वह बाहर भाग गया था, "अरे ओ देसू, देख तो मेरा भाई !"

चुन्नू रोने लगा तो उसके प्राण जैसे मुँह तक आ गए थे, "यह रोता क्यों है, अम्माँ ? इसे ये खिलौने दे दो," अपने खिलौने उसे देने की चेष्टा करते हुए वह बोला था।

एक सप्ताह इसी प्रकार बीत गया था, लेकिन फिर जाने क्यों चुन्नू शेखर को अखरने लगा। बात-बात पर कहता, "मुझे नहीं चाहिए यह। भेज दो इसे जहाँ से आया है।"

और आज बात यहाँ तक पहुँच चुकी है। शशि परेशान हो गई। आखिर क्या करे वह ?

स्टोर में बंद शेखर की आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थी। जिस उमग के साथ तीन वर्ष पूर्व उसने चुन्नू के आगमन का स्वागत किया था, आज वह उसके दिल में दर्द, वेदना और अभाव के गहरे चिह्न छोड गई थी। उसने कभी नहीं सोचा था कि वह सुदर दीखने वाला छोटा-सा खिलौना धीरे-धीरे उसके सारे अधिकार और उसके प्रति सबका प्यार छीनकर उस पर स्वय अधिकार कर लेगा।

हाँ, उसी दिन की तो बात है जिस दिन चुन्नू पैदा हुआ था। रोज की तरह रात वह अम्माँ के साथ सोने लगा, तो अम्माँ ने चुन्नू को प्यार से सहलाते हुए साथ वाली चारपाई की ओर इशारा करते हुए कहा था, "तेरी चारपाई यह है बेटा, अब तो तू बडा हो गया है न !"

"नहीं, मैं तुम्हारे साथ सोऊँगा," उसने मचलकर कहा था। लेकिन और दिनो की तरह शशि ने उसे प्यार से चूमकर छाती से नहीं लगाया, बोली, "जिद नहीं किया करते बेटा, जा, सो जा अपनी चारपाई पर।"

शेखर ने फिर जिद की थी, "तो चुन्नू क्यो तुम्हारे साथ सो रहा है ?"

शशि ने कुछ खीभकर कहा था, "अरे, तो तू क्या हमेशा मेरे साथ ही सोता रहेगा ? देखता नहीं, कितना बडा हो गया है तू !"

शेखर माँ की ओर देखता रह गया था। आज तक शशि ने उसकी कोई बात टाली नहीं थी। उसने शिकायत-भरी निगाह से शशि की ओर देखा, लेकिन शशि तो चुन्नू को थपकियाँ दे रही थी।

एक क्षण शेखर चुप रहा था, फिर अकेले उसे डर-सा लगा तो उसने पुकारा, "अम्माँ !"

शशि ने चिढकर पूछा था, "क्या है ?"

सुनकर शेखर को ठेस सी लगी थी। होंठो तक आती रुलाई रोककर रूठे स्वर मे बोला था, "कुछ नहीं।"

उसे आशा थी कि मम्मी उसे अपने पास बुलाकर मना लेगी, पर शशि ने करवट बदलकर कहा, "अच्छा, तो सो अब !" सुनकर उसके दिल को चोट-सी लगी थी।

उस रात शेखर सो नहीं सका था। उसे ऐसा लगा जैसे उसका एक प्रतिद्वंद्वी पैदा हो गया हो। कल रात तक आठ वर्ष रोज मम्मी के साथ सोने के बाद शेखर कैसे मान ले कि आज एक ही दिन मे वह इतना बडा हो गया है ! किन्तु सुबह तक वह सब-कुछ भूल चुका था, चुन्नू को रोते देखकर वह बोला, "इसे भूख लगी है मम्मी, दूध पिलाओ !"

इसके कुछ रोज बाद की बात है, चुन्नू झूले मे सो रहा था। शेखर ने देखा तो मुग्ध हो गया—ओह, कितना प्यारा है यह चुन्नू ! छोटे छोटे हाथ-पाँव, छोटा-सा मुँह, गोरा-सा रग ! उसके दिल मे सहसा प्यार का एक वेग-सा उमडा कि उसने उसके गाल को मसल दिया।

चुन्नू रो दिया तो शशि की आँख खुल गई, झिडककर बोली, "अरे, क्या कर रहा है तू ? एक सैकड भी उसे चैन नहीं लेने देता, बदमाश !"

अपराधी-सा शेखर बोला, "मम्मी, मैं तो उसे प्यार कर रहा था।"

"प्यार कर रहा था !" शशि खीझकर बोली, "इतना बडा हो गया, पर इतनी भी अक्ल नहीं आई कि सोते बच्चे को छेडना नहीं चाहिए। जा, भाग यहाँ से !"

शेखर कमरे से बाहर आया तो उसकी आँखें भरी हुई थी। जिस दिन से चुन्नू पैदा हुआ था, उसे एक बार भी मम्मी ने प्यार नहीं किया था, उसे मनाया नहीं था। उसे न तो अपने हाथ से खाना खिलाया और न ही अपने साथ कभी सुलाया।

उसका जी भर आया, उसे ऐसा लगा जैसे मम्मी अब पहले वाली मम्मी नहीं रही। इसका कारण चुन्नू ही समझकर उसके मन मे आग-सी लग गई।

पर जाने कौनसा आकर्षण था चुन्नू मे कि उसे देखकर सारा क्रोध भूलकर वह जैसे निहाल हो जाता। उस दिन की याद शेखर को आज भी है। चुन्नू को सुलाकर शशि नहाने गई थी कि चुन्नू सहसा रो उठा। शेखर का दिल पसीज उठा। मम्मी की तरह थपकियाँ देकर उसने उसे चुप कराने की चेष्टा की, लेकिन उसका रोना बढता ही गया तो भागकर वह अपने खिलौने ले आया

था। इस पर भी वह चुप नहीं हुआ तो शेखर परेशान हो गया। सहसा उसकी निगाह चुन्नू की दूध की बोतल पर पड़ी तो उसने जल्दी से उसे चुन्नू के मुँह से लगा दिया।

चुन्नू चुप होकर दूध पीने लगा तो गर्व से शेखर की छाती तन गई — हाँ, अब अम्माँ मुझे जरूर सराहेगी!

उसी समय शशि नहाकर आ गई। शेखर ने चिल्लाकर कहा, "देखो अम्माँ, चुन्नू रो रहा था, मैंने दूध पिलाकर चुप करा दिया!"

उसके मुँह से शब्द निकल भी न पाए थे कि चुन्नू ने दूध उगल दिया। शशि ने अपना माथा ठोक लिया। चिल्लाकर बोली, "तुझे कभी अक्ल आएगी कि नहीं? देखता नहीं, रात का दूध था। ठंडा, बासी दूध पिलाकर उसे मारना चाहता है?"

रुआँसा होकर शेखर बोला, "अम्मा, मैंने तो समझा था. . ।"

एक चाँटा रसीद करते हुए शशि बोली, "खबरदार, जो तूने इसे हाथ भी लगाया! इतना बड़ा हो गया, पर अक्ल ज़रा नहीं आई।"

शेखर स्तंभित हो गया। आज पहली बार शशि ने उस पर हाथ उठाया था। *माँ की ओर देखकर उसे वे दिन याद आए जब उसकी एक मुस्कान पर* शशि बलिहारी हो जाती थी। उसने ईर्ष्या से देखा, शशि चुन्नू को थपकियाँ देते हुए कह रही थी, "सो जा, मेरे लाल, राजदुलारे, सो जा!"

शेखर के दिल में क्रोध का तूफान-सा उमड़ा, उसका जी चाहा कि चुन्नू को पकड़कर ज़मीन पर पटक दे।

लेकिन फिर भी जब कभी वह चुन्नू को प्यार करने लगता, जाने क्यों वह रोने लगता और तब शशि खीझती, कभी-कभी चाँटा भी लगा देती, "तुझे कितनी बार कहा कि इसे मत छुआ कर! इतना बड़ा हो गया, पर किसी बात का शऊर ही नहीं!"

चुन्नू के पैदा होते ही बड़प्पन का जो बोझ शेखर पर लाद दिया गया था, उसे ढोने में वह अपने को सर्वथा असमर्थ पाता। हाँ, चुन्नू के जन्म से एक दिन पहले तक तो शेखर को प्यार से चूमकर जाने किस बात पर शशि ने कहा था, "छोटा सा तो है मेरा लाल!"

एक असह्य वेदना उसे झकझोर गई—हाँ, रमेश का भी तो छोटा भाई है, कितना प्यार करता है रमेश उसे! और वह भी कितनी किलकारियाँ

मारता है उनकी गोद में आकर ! पर यह बदमाश चुन्नू सिर्फ पिटवाता और झिड़कियाँ दिलवाता है ! उनका दिल घृणा से भर आया।

प्यार पाने की वह तरसना यह नहीं कि शशि ने उसे कभी प्यार नहीं किया था, पर जब कभी वह उसे प्यार करने लगती, उसे खाना खिलाने लगती कि यह चुन्नू का बच्चा रोने लगता और शशि जल्दी से उठ जाती, "ले, बेटा, अब तू अपने-आप खा ले, अब तो तू बड़ा हो गया है न !"

शेखर का दिल करता कि चुन्नू को पकड़कर खूब पीटे।

एक दिन शेखर के पिता प्रकाश ने शशि को समझाने की चेष्टा की, "तुम शेखर पर इतना खीझती क्यों हो ? आखिर क्या प्रभाव पड़ेगा उस पर ?"

शशि खीझ उठी, "अरे, तो प्यार भी तो मैं ही करती हूँ। जो प्यार करेगा, वह कभी मारेगा भी। और फिर, माँ की तो डाँट भी प्यार के कारण ही होती है।'

सुनकर शेखर का मन किया कि चिल्लाकर कहे—मुझे नहीं चाहिए तुम्हारा ऐसा प्यार ! पर वह चुप रहा।

प्रकाश ने उत्तर दिया, "पर फिर भी ।"

शशि ने बीच ही में उसे टोक दिया, 'देखो जी, अपने बच्चे का बुरा-भला मैं भी समझती हूँ।"

प्रकाश उठकर दूसरे कमरे की ओर चल दिया। काश, शशि पढ़ी-लिखी होती और इस प्रकार जब-तब शेखर को पीटने नहीं लगती, उस पर खीझने नहीं लगती और प्यार का सही अनुमान कर सकती !

जैसे-जैसे चुन्नू बड़ा होता गया, उसकी शरारतें बढ़ती गई। शेखर महसूस करता, केवल अम्माँ का ही नहीं, पापा का भी प्यार चुन्नू पर ही केन्द्रित हो गया है। वह दिन शेखर को आज भी याद है—प्रकाश दफ्तर से आया तो मचलकर उनकी गोद में चढ़ने का प्रयास करते हुए शेखर बोला, "पापा, हमें टॉफी ला दो।"

प्रकाश दो कदम पीछे हटकर बोला, "अरे, ऊपर क्यों चढ़ा आता है ? देखता नहीं, कपड़े खराब हो जाएँगे।"

इतने में चुन्नू ने तुतलाकर कहा, 'पापा !" और पापा प्यार से विभोर होकर उसे गोद में लेकर चूमने लगे। अपमानित, वेदनासिक्त शेखर देखता रह

गया। उसके दिल मे ज्वार-सा उठा—यह चुन्नू का बच्चा मर क्यो नही जाता ?

ज्यो-ज्यो चुन्नू बडा होता गया, शेखर के साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता बढती गई। अपना खिलौना तोडकर और फिर रोकर शेखर का खिलौना लेने की कला वह खूब सीख गया था।

शेखर विरोध करता तो शशि कहती, "दे दे बेटा, तेरा छोटा भाई जो है !"

शेखर नही देता तो चुन्नू पूरे जोर से राग अलापना शुरू कर देता। शशि शेखर को पुचकारती, लेकिन वह नही मानता तो उससे खिलौना छीनकर वह कहती, "अरे, दे भी दे ! छोटा भाई तो जैसे तेरा दुश्मन है !"

एक दिन खिलौना लेते ही चुन्नू चुप हो गया तो शेखर स्वय को सँभाल नही सका। कसकर चुन्नू के एक चाँटा मारकर सुनी सुनाई गाली देते हुए उसने कहा, "ले साले, ले !"

शशि क्रोध से पागल हो गई, "हूँ, तो अब इतनी हिम्मत हो गई तेरी ! खबरदार जो दुबारा हाथ उठाया ! कितना ही चाहती हूँ कि कुछ न कहूँ, पर मार खाए बिना तो जैसे इसे खाना नहीं पचता।"

इसके बाद शेखर बदला लेने से चूकता नहीं था। चुन्नू को अकेले पा चिकोटी काटकर भाग जाना या चपत मार देना उसकी जैसे दिनचर्या बन गई थी।

हर गुजरते दिन के साथ उसके दिल में चुन्नू के प्रति घृणा और अम्मी पापा के विरुद्ध विद्रोह की भावना बढ़ती गई, जो आज तूफानी वेग के साथ फूट पडी।

दीवार का सहारा लेकर शेखर ने मुट्ठियाँ भीच लीं—नहीं, वह अब किसी की परवा नही करेगा। ज्यादा-से-ज्यादा पापा मार ही तो लेंगे, यह कौन नई बात है ? रोज अम्मी पीटती ही हैं, आज पापा मार लें। सोचते-सोचते जाने कब उसे नीद आ गई। जब उसकी आँख खुली तो देखा, सुबह हो गई थी और वह अम्मी की चारपाई पर सोया हुआ था। कल की बात सोचते ही वह विद्रोह से भर गया। नहीं, अब वह अम्मी के साथ कभी नहीं सोएगा, कभी बात तक नही करेगा।

वह उठने लगा तो उसे बाँहों मे समेटकर शशि ने दुलार से कहा,

"शेखर, मेरे बेटे !"

इतने दिन बाद इतना प्यार पाकर शेखर रोमांचित हो गया, पर दूसरे ही क्षण उसे अपना प्रण याद आया। झटके से अपने को अलग करके वह तेजी से बाहर चल दिया। शशि पुकारती ही रह गई।

सारे दिन भटकने के बाद शाम को वह घर वापस आया तो उसने देखा, उसकी अम्माँ उसका नाम ले-लेकर बड़बड़ा रही थी और पड़ोस के डॉक्टर साहब उसकी नब्ज़ देख रहे थे। शेखर को देखते ही प्रकाश उसे गोद में उठाकर शशि से बोला, "देखो, शेखर आ गया है।"

शशि ने आँखें खोलीं और फिर पागलों की तरह उसने शेखर को बाँहों मे भींच लिया, 'मेरे बच्चे ! मेरे लाल !"

किन्तु शशि की दशा बिगड़ती गई। दिल की बीमारी की उसे पुरानी शिकायत थी, उसी ने अब भयानक रूप ले लिया था।

एक दिन सुबह शेखर सोया हुआ था कि उसे जगाकर गोद मे लेकर प्रकाश ने रुँधे गले से कहा, "शेखर बेटा, तुझे तेरी अम्माँ बुला रही है।"

शेखर को लेकर प्रकाश शशि के पास गया। शशि ने उसे अपनी छाती से चिपटाकर रोते हुए कहा, "मेरे लाल, अपने छोटे भाई का खयाल रखना। अब मैं कभी लौटकर नहीं आऊँगी।"

शेखर घबरा गया, रोकर बोला, "अम्माँ, तुम्हें क्या हो गया है, अम्माँ !"

कुछ देर माँ की छाती पर सिर रखकर वह रोता रहा कि उसे उससे अलग करके पापा ने रोकर कहा, "तेरी अम्माँ चली गई, बेटा !"

मृत्यु का अर्थ शेखर समझता था, चीख मारकर बोला, "अम्माँ !"

तीन दिन बीत गए। शेखर को अम्माँ के बिना एक अजीब सा सूनापन और अभाव महसूस होता। चुन्नू के लिए प्रकाश ने एक आया रख दी, पर वह हमेशा अम्माँ के लिए रोता रहता।

चुन्नू को रोते देखकर शेखर को उसके प्रति घृणा की परितृप्ति-सी मिलती—रोने दो साले को, हमेशा अम्माँ से चिपटा रहता था। ज्यों-ज्यों उसे अम्माँ की याद आती, छोटे भाई के प्रति उसकी घृणा बढ़ती जाती।

प्रकाश दफ्तर जाने लगा, तो रुँधे गले से शेखर से बोला, "अपने भाई का खयाल रखना। रोने नहीं देना उसे, अच्छा ?"

पापा दफ्तर चले गए तो शेखर ने मुँह बिचका लिया—उँह, हमेशा पिटवाता रहता था और अब खयाल रखो इसका !

उसी समय चुन्नू रो दिया तो शेखर का मुँह और भी बिचक गया—रोने दो साले को।

चुन्नू चुप नहीं हुआ तो उसने जैसे धमकी देते हुए कहा, "अबे, चुप भी कर !"

वह तब भी चुप नहीं हुआ तो उसे कसकर एक चाँटा रसीद करते हुए वह बोला, "चुप होगा कि नहीं ?"

चुन्नू और भी जोर से रोने लगा तो उसने उसे धड़ाधड़ पीटना शुरू कर दिया। आज वह अम्माँ से पिटवाने का बदला अच्छी तरह लेगा। मारते-मारते जब वह बेदम हो गया तो उसने देखा, चुन्नू के चेहरे पर उसकी उँगलियों की छाप पड़ गई थी। औंधे मुँह पड़ा हिचकियाँ लेता हुआ वह कह रहा था, "भैया, अब नहीं रोऊँगा। अम्माँ !"

शेखर सहसा चौंक पड़ा—हाँ, आज अम्माँ नहीं थी जो चुन्नू को छुड़ाकर बदले में शेखर को पीटकर कोठरी में बंद कर देती। उसने मुँह बिचकाया—उँह, समझता था अपने को लाट साहब का बेटा ! अब देखें कौन बचाता है इसे ! डपटकर बोला, "अबे, चुप करेगा या और मारूँ ?"

चुन्नू ने सहमकर शेखर की ओर देखा। डर के मारे उसका चेहरा सफेद हो गया था और हिचकियाँ रोकने की वह भरसक चेष्टा कर रहा था।

शेखर को तरस आ गया—बेचारा ! हाँ, कुछ दिन पूर्व ही तो शेखर भी इसी प्रकार निस्सहाय और बेबस अनुभव करता था। उसके दिल में करुणा का जैसे सागर उमड़ पड़ा। चुन्नू को चुप कराने की चेष्टा में असफल हो उसने सामने जमीन पर बैठी जँभाई लेती हुई आया से अधिकारपूर्ण स्वर में कहा, "आया, देखती नहीं, चुन्नू रो रहा है ! चुप क्यों नहीं कराती इसे ?"

आया चकित रह गई, "अरे, अभी खुद ही तो पीट रहा था !"

"बहुत बोल मत," उसने अम्माँ की तरह डाँटकर कहा, "दूध पिला इसे।"

दूसरे दिन सुबह शेखर अपने खिलौनों से खेल रहा था कि उनके लिए चुन्नू मचलने लगा। शेखर को क्रोध आ गया। उसे धकेलते हुए बोला, "अबे जा, बड़ा आया लाट साहब का बेटा !"

चुन्नू रोने लगा तो प्रकाश ने पुचकारकर शेखर से कहा, "दे दे, बेटा !"

"नहीं, मैं नहीं दूँगा," शेखर ने अक्खड़ स्वर में कहा।

बहुत कहने पर भी शेखर ने जब खिलौने नहीं दिये तो हारकर चुन्नू को पुचकारते हुए पापा ने कहा, "अरे, राजा बेटा होकर रोता है ? हम तेरे लिए शाम को बहुत से खिलौने ला देंगे।"

शेखर को आश्चर्य हुआ—अम्माँ की तरह पापा ने उससे खिलौने जबरदस्ती छीनकर चुन्नू को क्यों नहीं दिये ?

दफ्तर से पापा आये तो चुन्नू भागकर उनकी गोद में चढ़ गया। देखकर शेखर को ईर्ष्या हुई—बड़ा आया कहीं का लाडला ! वह मुड़कर जाने ही वाला था कि प्रकाश ने पुकारा, "शेखर, देख तो, हम तेरे लिए क्या लाए हैं !"

खुशी से शेखर उछल पड़ा, "अरे पापा, इतनी सारी टॉफियाँ !"

पापा ने उसे गोद में लेकर कहा, "थोड़ी सी अपने छोटे भाई को भी दे दे, बेटा !"

शेखर को सहसा याद आया—अम्माँ तो हमेशा पहले चुन्नू को देने के बाद शेखर को कोई चीज देती थीं।

उसने महसूस किया कि पहले का प्रतिद्वंद्वी चुन्नू अब सर्वथा निस्सहाय हो गया था, उसकी दया पर आश्रित ! पिघलकर बोला, "पापा, चुन्नू अम्माँ के लिए हमेशा रोता रहता है।" वह फूट-फूटकर रो पड़ा, "अम्माँ क्यों चली गई, पापा ?"

इसके दो दिन बाद की बात है, शेखर खाना खा रहा था कि चुन्नू बाहर से रोता हुआ आया। शेखर ने बुजुर्गों की तरह पुचकारकर पूछा, "क्यों, क्या हुआ, चुन्नू ?"

"रतन ने मारा है," चुन्नू ने सिसकियाँ लेते हुए कहा।

शेखर की आँखों में खून उतर आया। रतन के बच्चे की इतनी हिम्मत कि उसके छोटे भाई पर हाथ उठाए ! गरजकर बोला, "कहाँ है रतन ?"

"अपने घर भाग गया है।"

"अच्छा, कोई बात नहीं, बाहर निकलने दे उसे, मार-मारकर भुरकस न बना दिया तो कहना।" सहसा उसे माया का खयाल आया तो वह क्रोध से चीखा, "माया ! ओ माया !"

आया आई तो वह उबल पड़ा, "कहाँ गई थी तू ? देखती नहीं चुन्नू रो रहा है !"

चुन्नू के शरीर का स्पर्श करते ही आया चौंक पड़ी, "अरे दैया, इसे तो बुखार है !"

शेखर पर जैसे बिजली गिरी, "क्या ?"

आया भागकर डॉक्टर को बुला लाई। सारे दिन शेखर छोटे भाई की चारपाई पर बैठा उसे अपने खिलौनों के ढेर से बहलाने की चेष्टा करता रहा। चुन्नू अम्मां के लिए रोता रहा तो शेखर का दिल जैसे डूबने लगा, रुँधे गले से उसे चुप कराने की चेष्टा करते हुए वह बोला, "अम्मां तेरे लिए मिठाई लेने गई है, चुन्नू भैया, चुप हो जा।"

चुन्नू तब भी चुप नहीं हुआ तो वह अपने को रोक नहीं सका, सिसकियाँ लेते हुए अम्मां के फोटो की ओर देखते हुए वह बोला, "लौट आओ, अम्मां, अब मैं चुन्नू को कभी नहीं मारूँगा, अपने सारे खिलौने उसे दे दूँगा।"

शाम को प्रकाश दफ्तर से आया तो देखा, आँगन में शेखर फूट-फूटकर रो रहा था। वह सकपका गया, "क्यों, क्या हुआ, शेखर ?"

पापा को देखकर शेखर की रुलाई और भी बढ़ गई। आखिर बड़ी कोशिश करके वह बोला, "पापा, चुन्नू को बुखार है !"

प्रकाश हड़बड़ाकर अन्दर जाने लगा तो उससे लिपटकर वह बोला, "आया चुन्नू का जरा भी खयाल नहीं रखती। पापा, तुम नई अम्मां ले आओ, नहीं तो चुन्नू भी मर जाएगा !"

१३

सूर्य का जन्म

उगते हुए सूर्य की किरणों ने धरती का बाह्य अन्धकार निगल लिया, तो विधाता ने घुटनों पर रखा अपना सिर ऊपर उठाया। रात-भर सिसक-सिसककर रोने के बाद उनकी आँखें अस्त होते हुए सूर्य की तरह लाल हो रही थीं। चेहरे पर एक हारे हुए जुआरी का-सा पराजय-भाव और अन्त करण में गहन अधकार का उमड़ता हुआ, हिलोरें लेता हुआ, बधन-हीन सागर! सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एव नियता कहे जाने वाले विधाता का अपनी शक्ति एव क्षमता पर से विश्वास उठता जा रहा था। सृष्टि की रचना उसने आनन्द को मूर्त रूप देने के लिए की थी, किन्तु उसके कान रामायण, महाभारत एव ट्राय के युद्धों की प्रलयकारी गड़गड़ाहट तथा उसकी आँखें उन विनाशक शस्त्रास्त्रों के भीषण, सहारी प्रदर्शनों को भूली नहीं थीं, जिन्होंने उसकी सत्ता को चुनौती देते हुए सृष्टि को नष्ट करने का मानो बीड़ा उठा लिया था।

किन्तु उस कटुता रूपी विष को विधाता ने प्राथमिक बाधाओं के रूप में लेकर हँसते-हँसते पी लिया था। उन आसुरी वृत्तियों पर जब उसने ठहाका लगाया था तब विनाश के वे घने, काले बादल छट गए थे और आकाश एक बार फिर साफ हो गया था। बाधाएँ इसके बाद भी आईं, बादल फिर-फिर छाए, किन्तु निराशा का कुहरा आशा को निगल नहीं सका कभी। किन्तु आज—और विधाता ने अपना चेहरा ढक लिया—हाँ, आज वह इस कटु सत्य से इकार नहीं कर सकता कि अपनी ही सतान के सम्मुख, उसकी शक्ति और हठ-के-सम्मुख वह हार गया है। तथाकथित सभ्यता एव उन्नति की इस बीसवीं शती में इसान की भूख दो महायुद्धों के प्रलयकारी विनाश से मिटने की बजाय और भी तेज हो गई है। और अब तृतीय महायुद्ध के काले बादल सारे ससार को अपने घेरे में बाँधते चले जा रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप वेदना एव विवशता का एक ऐसा सागर-सा उमड़ा कि विधाता का अन्त करण चीत्कार उठा। हाँ, आखिर क्या करे वह? बीसवीं शती के इस वैज्ञानिक युग में निरतर स्पदन हीन होते जा रहे इन्सान के हृदय में वह नई उमगें, नई

भावनाओं को किस प्रकार जागृत करे ? एक-दूसरे के खून की प्यास आखिर इन्सान में कब बुझेगी ?

विधाता को ईसा, सुकरात, लिंकन और गांधी की याद आई तो वह फूट-फूटकर रो पड़ा—हाँ, उसका अन्तिम अस्त्र भी विफल गया था, आशा का दीप बुझ गया था, प्रकाश की अन्तिम किरण भी विलीन हो गई थी।

एक ज़ोर का धड़ाका हुआ तो विधाता ने कांपती धरती को थाम लिया। दूर बिकनी द्वीप में अमरीका ने उद्जन बम का परीक्षण किया था। चारों ओर सर्वनाश की लपटों के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई न दिया। घृणा, द्वेष एवं तेज़ी से बढ़ते चले आ रहे विश्व-युद्ध के भारी पगों की आहट के अतिरिक्त कुछ सुनाई न दिया। उसका जी किया कि वह धरती पर अपना सिर पटक दे।

जाने कितनी देर वह इसी प्रकार हताश बैठा रहा कि एक मर्मभेदी चीख ने उसके अन्त:करण को कंपा डाला। आँखें फाड़े वह कुछ देखने, समझने की चेष्टा कर रहा था कि उसके कानों में शहनाई के मधुर स्वर गूंज उठे। विधाता का मस्तिष्क चकरा गया—पुनीत, उन्मुक्त, दो हृदयों के इस मधुर-मिलन की बेला में इस घनीभूत वेदना के स्वर का अर्थ ? अंधकार के घने पर्दे को चीरकर विधाता ने देखा, दुलहन का सुन्दर मुख सिसक-सिसककर रोने के परिणामस्वरूप कुम्हला गया था, बिम्बाफल से होंठों पर पपड़ी जम गई थी और नीलकमल-सी आँखों में एक अजीब-सा सूनापन, सहमापन था, मानो आज उसके रंगीन अरमानों एवं सुखद सपनों की दुनियाँ लुट रही हो।

"उठ, मेरी रानी बिटिया !" उसकी माँ ने आकर प्यार से कहा तो माँ को ज़ोर से धकेलकर तीखे स्वर में वह बोली, "तुम मुझे मारना ही चाहते हो तो मेरा गला क्यों नहीं घोट देतीं ?"

'सुन तो बेटी ...!"

"चुप रहो," उसे जैसे उन्माद हो गया हो,"मैं किसी की बेटी नहीं हूँ। मेरा किसी से कोई नाता नहीं है। तुम सब मेरे दुश्मन हो, सब ...!"

और स्तम्भित विधाता ने सुना, बेटी से लिपटकर फूट फूटकर रोती हुई माँ कह रही थी, "तू ही बता, मेरी बच्ची, मैं क्या करूँ ? तू भूल क्यों नहीं जाती राकेश को ? सोच ज़रा, घृणा, भेदभाव और परम्परा की दीवारों की इस दुनियाँ में प्रेम का संगम क्या सम्भव है ?"

विधाता के दिल में असह्य वेदना की एक लहर-सी उठी, मानो कोई

उसके अन्त करण को बींधता, चीरता चला जा रहा हो।

शहनाई के स्वर अब भी गूँज रहे थे, चहल-पहल का दौर बढ़ता जा रहा था और मुक्त हास्य के स्वर मानो दुलहन का उपहास कर रहे थे।

"तुमने पैदा होते ही मेरा गला क्यों नहीं घोट दिया, माँ ?" माँ के गले से लिपटकर दुलहन सिसकते हुए बोली। अवाक्, वेदनासिक्त विधाता यह सब देखता रहा कि एक स्वर और सुनाई दिया—गहन उदासी और मर्मान्तक पीड़ा से परिपूर्ण स्वर, "उठो, कान्ति, यह क्या पागलपन है ?"

दुलहन ने सिर उठाया और फिर पागलों की तरह वह आगन्तुक से लिपट गई, "तुम . तुम राकेश मेरे सपनो !"

उसे अपने से अलग करते हुए वह बोला, "अपने को सम्हालो, कान्ति ! सपनो के मोह मे क्यो पड़ती हो, भला स्वप्न भी कभी सत्य हुए है ?"

और विधाता को लगा मानो ये शब्द स्वय उस पर व्यग्य करने के लिए कहे गए हो। हां, सपनो के मादक ससार का निर्माण विधाता ने इसीलिए तो किया था कि दुख-दर्द से हारा हुआ, जीवन के थपेड़ो से थका हुआ, टूटा हुआ इसान उस रगीन कल्पना-लोक के रूप मे जिन्दगी का आसरा ढूँढ सके, धरती के कटु यथार्थ का सामना कर सके ! पर आज क्या सुन रहा है वह, कि वह रगीन स्वप्न-लोक ही भोले, मासूम, निष्कपट हृदयो के लिए क्रूर नियति का व्यग्य बन गया ?

"विश्वास क्यो हारती हो, रानी ? हम फिर मिलेंगे, इस जन्म मे नही तो अगले मे सही ! दिल मजबूत करो कान्ति, प्यार को बदनाम क्यो करती हो ?" उसे अपने से अलग करते हुए वह जाने लगा तो कान्ति की हिचकियाँ बँध गई, "न जाओ, राकेश, न जाओ कम-से-कम तुम तो मेरा साथ न छोड़ो !"

आँखो मे उमड़ते सावन को किसी प्रकार पीकर वह बोला, "खुश रहना, कान्ति, याद रखो हम फिर मिलेंगे, जरूर मिलेंगे !"

सर्वज्ञ विधाता ने देखा, भविष्य मे उन प्रेम पुजारियों के भाग्य मे दो ही वस्तुएँ बदी थी—मरघट का-सा सूनापन और टूटी हुई कब्र के समान टूटे हुए अरमान !

करुणा सिक्त सहानुभूति का एक स्रोत विधाता के मन मे उमड़ा तो उसने प्रेम-पुजारी के हारे हुए मन और थके हुए पगो को सहारा देने के लिए उसके कधे पर अपना वरद-हस्त रख दिया। चौंककर युवक ने पूछा,

"कौन ?"

"मैं हूँ, मेरे बच्चे, मैं—तुम सबका पिता, इस सृष्टि का निर्माता !" विधाता ने स्वर मे स्नेह और ममता भरकर कहा।

"तुम तुम ," युवक दो कदम पीछे हटा और फिर मानो ज्वालामुखी फूटा, "चले जाओ मैं कहता हूँ चले जाओ तुम्हें साक्षी बनाकर हमने प्यार के जो वायदे किये थे, शपथें खाई थी, उनका मजाक उडाने आये हो क्या ?"

"सुन तो मेरे बच्चे !"

"धोखा मत दो हमे, तुम हमारे पिता नही हो, पूँजीपतियो, हृदय-हीनो और अत्याचारियों के पिता हो। पिता अगर हो भी तुम हमारे, तो सौतेले पिता हो, हम तुम्हारी सौतेली सन्तान है तुमने सुना नही, मैं कहता हूँ, चले जाओ !"

पर विधाता की तो जैसे किसी ने सारी शक्ति छीन ली हो, उसके पाँवो मे मानो बेडियाँ पड गई हों।

"तुम नही जाओगे तो मुझे ही जाना पडेगा," कहकर तेजी से युवक एक ओर चल दिया तो विधाता ने बैठते दिल को पकड लिया। सूनी आँखो मे वह जाते हुए युवक की ओर देखता रहा—उफ, कैसी विडम्बना है कि रेगिस्तान मे शुष्क क्षणो मे जीवन मे नई आशा, नई उमग, नव-रस का सचार करने के लिए प्रेम का जो बीज मैंने बोया था, उसी ने इसान की तमन्नाओं का खून करके उसे जीवित लाश बना दिया।

और विधाता परेशान हो गया। आखिर कौनसी शक्ति है वह कि जिसके सम्मुख वह सर्वथा असहाय बन गया है, अपने कायक्रम एव आशा के महलो को टूटते देखकर भी वह हसरत-भरी निगाहो मे एक अजीब सी प्यास लेकर आहें भरने के सिवाय कुछ नही कर सकता।

सहसा उसे अपने कलाकार-पुत्र की याद आई, तो उसके हृदय मे मानो नई रोशनी, नई आशा का स्रोत फूटा। भटकती दुनियाँ को राह दिखाने का कार्य उसने अपने इस पुत्र को सौंपा था। उस कलाकार पुत्र के घर मे वह प्रवेश करने ही वाला था कि एक निर्जीव स्वर उसे सुनाई दिया, "मैं कहती हूँ तुम अब लिखना बन्द करोगे या, अपने लिए नही तो कम-से-कम मेरे लिए, अपने बच्चो के लिए तो अपने स्वास्थ्य का ख्याल करो।"

"तुम झूठी प्राशाम्रो का सहारा क्यो ले रही हो, शील ? मैं अब बचूँगा नही, इसलिए कम-से-कम मुझे आखिरी बार तो नये इन्सान की विजय के गीत गा लेने दो, कि परम्परा की ये दीवारें टूट जायें और इन्सान स्वच्छन्द पक्षी के समान ", और खाँसी के एक दौर ने उससे शेष शब्द छीन लिए।

कलाकार की पत्नी का रुआँसा स्वर सुनाई दिया, "मैं कहती थी न तुम ।"

कलाकार का उखड़ता स्वर फिर सुनाई दिया, "प्राज मैं बहुत खुश हूँ, शील, बेहद खुश हू कि अन्तिम क्षणो मे भी मेरे हाथो ने इन्सानियत का भण्डा थामे रखा। मैं जा रहा हूँ, रानी, पर मेरे गीत मरेंगे नही, मेरी कहानियाँ नये इन्सान की चिरतन विजय की कहानियाँ बन जायेंगी। विदा शील, विदा प्रिय ।"

तेजी से विधाता अन्दर प्रविष्ट हुआ, किन्तु पक्षी पिंजरे से उड चुका था। उसने उसे पुनर्जीवित करने के लिए अपना वरद हस्त उस पर रखना चाहा कि सहसा वह रुक गया—उसके इस कलाकार पुत्र की यह असामयिक मृत्यु विधाता की हार और उसकी अपनी ही भटकी हुई सन्तान की विजय की प्रतीक नही थी क्या ? अब तक वह युद्ध नही कर सका प्रगर, तो भविष्य मे ही ऐसी कौनसी सम्भावना है कि । उसकी आँखो के सामने कलाकार का अतीत नाच उठा—भूख, बेकारी, अभाव, शोषण, रोग और और विधाता सहसा काँप उठा—तो क्या अपनी ही सन्तान की शक्ति का सामना करने की शक्ति, क्षमता नही रही उसमे ? सर्वशक्तिमान कहे जाने वाले विधाता ने स्वय को इतना असहाय, इतना विवश कभी अनुभव नही किया था।

"बचाम्रो, बचाम्रो . ," एक आर्त नारी-स्वर हवा मे गूँजा, तो विधाता ने देखा कि एक अबला के शरीर को एक नर पशु की बाँहो का घेरा बाँधता चला जा रहा था। "छोड, छोड मुझे बदमाश, छोड ! हे ईश्वर ," छटपटाते हुए वह बोली तो उसने जोर का एक ठहाका लगाया, "ईश्वर . खूब ! उस मिट्टी के भगवान को क्यो बुलाती है, मेरी जान ? वह तो कब का मर चुका, आज इसान का ईश्वर यह है, यह, देख, जी भरकर देख।" और उन्मत्त की तरह उसने पास पडी पोटली उलट दी तो चाँदी के असख्य गोल सिक्को की खनखनाहट से कमरा गूँज उठा।

क्रोध के मारे विधाता की मुट्ठियाँ भिच गई। उस नर-पशु का वध

करने के लिए जैसे ही वह आगे बढ़ा, वह चकित रह गया। उस नर-पशु की सहायता के लिए लाखों, करोड़ों व्यक्तियों का समूह बढ़ता चला आ रहा था, निरंतर उमड़ती बाढ़ के समान।

"चले जाओ, वापस चले जाओ, वरना मैं सबका नाश कर दूंगा," विधाता ने चिल्लाकर कहा, किन्तु निरंतर बढ़ रहे इस कोलाहल में कोई उसकी आवाज सुने तब न! क्रोध से पागल होकर विधाता ने सुदर्शन-चक्र उठाया तो ब्रह्माण्ड घूमने लगा, तीनों लोकों में त्राहि-त्राहि मच गई। एक झटका-सा विधाता को लगा तो उसका बढ़ा हुआ हाथ नीचे झुक गया। एक हूक-सी उसके मन में उठी और उसने काँपती धरती को थाम लिया। उफ, अपनी ही संतान का, स्वनिर्मित सृष्टि का अपने ही हाथों नाश कैसे कर दे वह? आखिर उसका पिता का दिल है! असहाय-सा फूट-फूटकर वह रो पड़ा— तो तो क्या वह अत्याचार का यह खुला प्रदर्शन एक मूक दर्शक के रूप में देखता जाय?

जाने कितनी देर वह इसी प्रकार रोता रहा कि प्रलय के सागर के समान बढ़ते चले आ रहे करोड़ों इन्सानों के स्वरों ने वातावरण में जैसे नव स्फूर्ति भर दी। "पूंजीवाद मुर्दाबाद, दुनियाँ के मजदूर भाई-भाई, अत्याचार का नाश होकर रहेगा।"

विधाता को जैसे एक नई आशा, नई रोशनी देखने को मिली हो। वह उत्सुकता से परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा।

किन्तु सहसा उसने देखा, चारों ओर अंधकार और गड़गड़ाहट का एक और सागर सा उमड़ा कि जिसमें वह नई रोशनी डूब गई, वह आवाज विलीन हो गई। अन्धकार का पर्दा कुछ हटा तो उसने देखा, वे आवाजें कराहों के रूप में परिवर्तित हो गई थीं, जोश से उमड़ने वे दिल राख हो गए थे, नई इन्सानियत के संदेशवाहकों एवं पैगम्बरों के शरीर सड़ी गली लाश बन गए थे और नर-राक्षस अपने शस्त्रास्त्रों, अपनी शक्ति पर मान करते हुए विजय की मुस्कान मुस्करा रहे थे।

एक बार फिर विधाता का हाथ सुदर्शन-चक्र पर गया, किन्तु विस्फारित नेत्रों से वह देखता रह गया—उसकी शक्ति से होड़ लेने के लिए बीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण वैज्ञानिक-वर्ग आगे बढ़ आया था।

"चले जाओ, वापस चले जाओ, मूर्खो," एक बार वह फिर चिल्लाया,

"जानते हो किससे सामना करने चले हो ?"

उसकी चेतावनी का स्वागत एक उपेक्षापूर्ण ठहाके ने किया। फिर विद्रोहियों के नेता ने आगे बढ़कर कहा, "लगता है, तुम इस समय होश में नहीं हो।"

"चुप रहो !"

"मुझे तुम पर क्रोध नहीं, तरस आता है," नेता ने जैसे विधाता को समझाते हुए कहा। "जाओ, किसी से टक्कर लेने से पहले अपनी सामर्थ्य देख लिया करते हैं, समझे ?"

"तुम चुप होओगे या ?"

"हूँ, तो तुम इस तरह बाज़ नहीं आओगे," नेता ने दाँत पीसकर कहा, "मैं तुम्हें पाँच मिनट का समय दे सकता हूँ, वरना ।"

विधाता के सामने प्रथम और द्वितीय महायुद्ध, हिरोशिमा और नागासाकी, अगणित शस्त्रास्त्रों के अम्बार, उद्जन बम के परीक्षण, इसान में इसान के खून की बढ़ रही प्यास के चित्र नाच उठे तो वह सहसा काँप उठा। इस सृष्टि का विनाश वह अपनी ही आँखों से होते देख सकेगा क्या ? और, फिर यह उसकी सबसे बड़ी हार नहीं होगी क्या ?

आज पहली बार विधाता ने महसूस किया कि एक मूक, असहाय, एकाकी दर्शक के अतिरिक्त ससार के इस विशाल रगमच पर उसकी और कोई भूमिका नहीं रह गई थी।

"एक मिनट और शेष है, सोच लो," लाखों आवाज़ों ने अंतिम चेतावनी दी।

अपनी दयनीय स्थिति और अपनी भटकी, अन्धी सतान की अबोधता, मूर्खता पर विधाता की आँख से दो मोती और टपके। और फिर एक हारे हुए खिलाड़ी के समान उसके पाँव वापस मुड़ गए, तो लाखों विजयी आवाज़ों ने धरती आकाश एक कर दिए।

एक ऊँचे टीले पर प्राणहीन-सा विधाता लेट गया—एक लम्बी किन्तु असफल यात्रा के उपरात किसी थके, टूटे, हताश पथिक के समान !

एक एक पल जैसे पहाड़ बन गया था कि सहसा कल-कल करते झरने के समान, सगीत की सम्पूर्ण मादकता से परिपूर्ण एक हँसी ने विधाता के दिल के सोए तारों को झकृत कर दिया। विधाता उठकर बैठ गया—तो रेगिस्तान-

से शुष्क जीवन मे भी बसन्त का पराग, उल्लास छिपा है क्या ?

उत्सुकतावश वह उठ खड़ा हुआ, उसके रोम-रोम मे नव-स्फूर्ति दौड गई हो जैसे ।

"ओह, तुम कितने अच्छे हो, डियर ! पर. पर हमे किसी ने इधर आते देखा तो नही न ?" एक काँपता नारी-स्वर सुनाई दिया।

विधाता ने जो देखा, तो लज्जावश उसकी आँखें मुँद गई ।

"तुम डरती क्यो हो, डार्लिंग ? मेरी ओर देखो, मैने समाज के नैतिक बन्धनो की परवा की है कभी ?" युवक ने चुनौती देते हुए कहा।

उसकी घेरती बाँहो मे अपने शरीर को ढीला छोडती हुई युवती बोली, "नही नही, मै डरती नही हूँ, पर सोचो जरा, अगर मेरे पति को पता चल गया ?"

युवक हँसा, "वह खुद इस समय नशे मे चूर किसी के साथ । उसे यह सब देखने की फुरसत कहाँ है ?"

युवती का स्वर फिर सुनाई दिया, "ओ डार्लिंग !"

विधाता ने अपने कानो मे उँगली डाल ली। उफ, वह बीसवी सदी का पुरुष .और यह आधुनिक नारी जो सदियो की गुलामी के पश्चात् मिली स्वतन्त्रता और नारीत्व के परित्याग को पर्यायवाची मान बैठी है ! विधाता की आँखो के सामने वासना के नग्न-प्रदर्शन, क्लब, कामुक नृत्यो के निर्लज्ज दृश्य घूम गए। वासना के बढते दौर को प्रगतिशीलता का प्रतीक मानने वालों के निर्लज्ज ठहाके उसके कानो से टकराए तो उसे ऐसा लगा, जैसे सारी दुनियाँ उसकी असफलता पर ठहाके लगा रही हो, उसका उपहास कर रही हो। उसे लगा, जैसे खडहर के समान टूटे दिल, दम तोडती भावनाओ, मरती हसरतों और विवशता के अगम, अथाह, अनन्त सागर के अतिरिक्त कुछ नही रह गया है वह !

तीन पहर रात्रि बीत चुकी थी। निराशा के घने, काले बादलो ने आशा-रूपी-आलोक की अन्तिम किरण को भी निगल लिया था। और विधाता—उसके शरीर मे जैसे गति न रही हो, विचार-शक्ति समाप्त हो गई हो, निराशा का कुहरा उस पर छाता चला जा रहा हो। पर रह-रहकर एक प्रश्न कौंधता—आखिर क्या करे वह, जिन्दगी को मौत का प्रतिबिम्ब बनने से कैसे रोके वह ?

सहसा चकित होकर उसने देखा—दूर, अन्तरिक्ष मे अन्धकार के पर्दे को चीरकर एक नया सूर्य उग आया था। उसने महसूस किया, मद, शीतल समीर के प्यार-भरे झोके निस्तब्ध, निर्जीव पडे प्राणियो मे नव-प्राण फूँक रहे थे। अन्धकार के काले बादल छँट गए थे और एक दिव्य आलोक से धरती जगमगा रही थी।

पर विधाता इस बार नहीं उठा—इतनी निराशा, कटुता पाने के पश्चात् उसमे अपने दिल को तसल्ली देने का साहस नही रह गया था। पर उस नये सूर्य के बढते प्रकाश मे कुछ क्षण पश्चात् विधाता ने देखा, वे नर-राक्षस मुरझाये पत्तो की तरह काँप रहे थे। उत्सुकतावश विधाता उठकर बैठ गया। दूर नज़र दौडाई तो देखा, सदियो के शोषण के परिणामस्वरूप हारे-टूटे इन्सानो मे जाने किसने एक नई, अद्भुत शक्ति का सचार कर दिया था कि पथ की बाधाओ को उपेक्षा से देखते हुए, काँटो को रौंदते हुए वे बढते चले आ रहे थे, जिन्दगी ने मौत को जैसे चुनौती दी हो। जोर का एक रेला आया तो विधाता ने देखा, नर-राक्षसो मे भगदड मच गई थी और इन्सान की विजय के गीतो से धरती-आकाश एक हो गए थे।

फिर भूकम्प-सा आया मानो धरती काँप उठी हो। एक गडगडाहट-सी हुई, मानो कानो के पर्दे फट जायँगे। एक तूफान-सा आया, मानो जिदगी और मौत मे सग्राम छिड गया हो।

विधाता सहसा काँप गया, दिल उसका बैठ गया—तो जिन्दगी मौत के सामने फिर हार जायगी क्या ? उफ, यह सतत हार, दुर्भाग्य की लम्बी कहानी ! विधाता का अन्त करण एक बार फिर चीत्कार उठा। आखिर क्या करे वह ?

पर गडगडाहट बन्द हुई, तूफान थमा तो जो उसने देखा, उसे देखकर उसे अपनी आँखो पर विश्वास नही हुआ। वे भयकर शस्त्रास्त्र डुबोए जा रहे थे। परम्परा की वे दीवारें ढह चुकी थी, वे बुझे हुए दिल सम्पूर्ण ससार मे एक नई आभा का प्रसार कर रहे थे और हर होठ पर इन्सान की विजय के, गीत मुस्करा रहे थे। पागलो-सा विधाता उठा, उसमे जैसे किसी ने नव-प्राण फूँक दिए हो। जिन्दगी ने जैसे एक नई करवट ली हो, उसमे एक नया मोड आया हो। नव-आशा के सुरभीले झोके मानो उसे अपने आलिगन मे भर लेना चाहते हो।

उस नये सूर्य के प्रकाश का उसने अनुसरण किया तो उसके पाँव उसे धान के एक छोटे-से खेत मे ले गए। उसने देखा, एक टूटी चारपाई पर एक नवजात शिशु किलकारियाँ मार रहा था। जाने कब, विधाता के अनजाने मे, उस नये इन्सान का जन्म हो गया था, पर उसे देखकर प्रसन्नता के अतिरेक मे उसको रोमाच हो आया। कल और आज मे, अतीत और वर्तमान मे अन्तर यह था कि जहाँ पहले नियति के हाथो पराजित मानव मार्ग प्रदर्शन के लिए विधाता मे याचना करता था, वहाँ आज स्वय मानव दाता बनकर विधाता को नई चेतना का वरदान दे रहा था, जिसके परिणामस्वरूप विधाता के हृदय से अन्धकार का कुहासा छँट गया था। नये इन्सान के बढते हुए पगो को देखकर उसके आश्वस्त प्राणो मे नए उल्लास एव उत्साह का मानो स्रोत फूट निकला था। उसके नेत्रो मे एक नई आभा आ गई थी और आनन्दातिरेक से उसके होंठ काँप रहे थे।